UGC Approved Research Journal No. 47816
पंजीयन संख्या RNI No.: MPHIN/2002/9510

ISSN : 2456-8856
डाक पंजीकृत क्रमांक 204/2018-2020 उज्जैन (म.प्र.)

Peer Reviewed Bilingual Monthly International Research Journal

आश्वस्त

वर्ष 22, अंक 202

अगस्त 2020

संपादक – डॉ. तारा परमार

भारती दलित साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश, उज्जैन की अन्तर्राष्टीय मासिक शोध पत्रिका

वर्ष : 22 अंक 202
अगस्त 2020

आश्वस्त

(सन् 1983 से निरंतर प्रकाशित)

RNI No.: MPHIN/2002/9510
ISSN : 2456-8856

भारती दलित साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश, उज्जैन (पंजीयन क्रमांक 2327 दिनांक 13/05/1999) की मासिक पत्रिका

संस्थापक सम्पादक
डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी

संरक्षक
सेवाराम खाण्डेगर
11/3, अलखनन्दा नगर, बिड़ला हॉस्पिटल के पीछे,
उज्जैन मो.: 98269-37400

परामर्श
आयु. सूरज डामोर IAS
पूर्व सचिव-लोक स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण वि.
म.प्र.शासन, भोपाल मो. 094253-16830

सम्पादक
डॉ. तारा परमार
9-बी, इन्द्रपुरी, सेठी नगर, उज्जैन-456010
मो. 94248-92775

सम्पादक मण्डल :
डॉ. जयप्रकाश कर्दम, दिल्ली
डॉ. खन्नाप्रसाद अमीन, गुजरात
डॉ. जसवंत भाई पण्ड्या, गुजरात
डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा, म.प्र.

कानूनी सलाहकार
श्री खालीक मन्सूरी एडव्होकेट, उज्जैन

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	लेखक	पृष्ठ
1.	अपनी बात	डॉ. तारा परमार	03
2.	दलित साहित्य : आस्वाद के धरातल	डॉ पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी	04
3.	अरविन्द के जन्मदिन 15 अगस्त पर प्रकाश्य अरविन्द की काव्य दृष्टि	डॉ. मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ	25

UGC द्वारा मान्यता 47816 प्राप्त पत्रिका
खाते का नाम - आश्वस्त,खाते का नं.- 63040357829
बैंक - भारतीय स्टेट बैंक, शाखा- फ्रीगंज, उज्जैन
IFS Code - SBIN0030108

Web : www.aashwastujjain.com
E-mail : aashwastbdsamp@gmail.com

एक प्रति का मूल्य	:	रुपये 15/-
वार्षिक सदस्यता शुल्क	:	रुपये 150/-
आजीवन सदस्यता शुल्क	:	रुपये 1,500/-
संरक्षक सदस्यता शुल्क	:	रुपये 10,000/-

विशेष : सम्पादन, प्रकाशन एवं प्रबंध अवैतनिक तथा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से सम्पादक-मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायालय क्षेत्र उज्जैन रहेंगा।

अपनी बात

स्वतंत्रता के 73वें वर्ष पूर्ण कर 74वें पायदान पर पहुँचने के उपलक्ष्य में सम्पूर्ण देश में यह राष्ट्रीय पर्व धूमधाम से लेकिन फिजिकल डिस्टेनसिंग के साथ मनाया गया। ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ लड़ाई ही भारतीय जनता की एकमात्र लड़ाई थी। भारतीय आम जनता की एकमात्र समस्या केवल ब्रिटिश हुकूमत थी, संभवतः और कोई समस्या नहीं थी।

भारत की गुलामी का एकमात्र कारण ब्रिटिश हुकूमत है और उनका यहाँ से अपनी सत्ता छोड़कर जाना ही सभी भारतीयों की असली आजादी है जो भारत को आज से 73 वर्षपूर्व मिल चुकी है। जिसका उत्सव हम प्रतिवर्ष 15 अगस्त को मनाते हैं। यह राजनीतिक आजादी का दिन है।

आजादी के विगत दशकों में हमारी परिवर्तन की सामाजिक चेतना में, सामाजिक क्रान्ति की चेतना में गिरावट आई है। देश में धर्मवाद, सम्प्रदायवाद, व्यक्तिवाद, भ्रष्टाचार, अपराधीकरण बढ़ता गया है। जिसने मानवीय चेतना, मानवीय ऊर्जा को नष्ट किया, देश और मानवता को विघटित किया समाज के एक बड़े वर्ग को राष्ट्र की मुख्यधारा में नहीं ला पाने के कारण सामाजिक टकराव बढ़ता जा रहा है। देश के परम्परागत सामाजिक ढांचे में कोई खास परिवर्तन नहीं आ पाया है। हम दलित–शोषित समाज के लोकतंत्र को स्थापित नहीं कर पाये। भारत का यह अजीब लोकतंत्र है जहाँ बहुसंख्यक दलित, शोषित समाज सत्ता से दूर है और अल्पसंख्यक उच्चवर्गीय, वर्गीय समाज विगत वर्षों से सत्ता पर कुण्डली मारकर बैठा है। दलित–शोषित, पिछड़ों आदिवासियों की आजादी के आन्दोलनों को तोड़ा जा रहा है। उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक क्रान्ति को, आदर्शों, मूल्यों को नष्ट किया जा रहा है। बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर की प्रतिमा को खण्डित किया जा रहा है। आज फिर स्वदेशी और विदेशी व्यापारी, पूंजीपति, साहूकार, दलाल, उच्च वर्ग (सवर्ण) उद्योगपति देश को लूट रहे हैं। आजाद भारत के सामने बाह्य एवं आंतरिक क्षेत्र में खतरे मंडरा रहे हैं। देश का आम नागरिक भी उपभोक्तावाद का शिकार बनता जा रहा है और उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता टूट रही है। सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन बिखर रहे हैं और यही आज सबसे ज्यादा चिंता की बात है, क्योंकि जिनके हाथ में आर्थिक सत्ता होगी वे ही शिक्षा, संस्कृति, राजनीति, समाज नीति, साहित्य एवं कला को प्रभावित करेंगे। इसलिये आज देश के दलितों, शोषितों, पिछड़ों, आदिवासी वर्ग को गंभीर रूप से सोचना होगा कि देश के मूलभूत आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक ढांचे में, व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए क्या करना होगा ? देश के आर्थिक ढांचे पर दलितों, पिछड़ों, आदिवासियों तथा शोषित वर्ग का नियंत्रण कैसे हो इस पर भी गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है।

क्या देश के करोड़ों दलितों को आजादी मिली? क्या वे आज भी जाति–पांति, भेदभाव, पक्षपात, शोषण, उत्पीड़न, बलात्कार, बंधुआ मजदूरी, बेकारी, गरीबी, बेरोजगारी, भूखमरी, अन्याय, अत्याचार, दमन के शिकार नहीं है।

सरकारी तौर पर कितनी ही योजनाएं बनी, अनेकानेक कार्यक्रम चलाये गये, न जाने कितनी घोषणाएं हुई, कितना धन व्यय हुआ परन्तु क्या दलितों की उन्नति हुई। क्या उपरोक्त समस्याएं घटी? क्या पुलिस, प्रशासन व अदालतों से उन्हें संरक्षण व सामाजिक न्याय मिला? उत्तर होगा नहीं। लेकिन आजादी के इन सात दशक से अधिक वर्षों में यह जरूर हुआ कि दलितों में नई चेतना जागी। जुल्म और अत्याचार व अन्याय का विरोध करने का जज्बा उनमें अवश्य पैदा हुआ। दमन और अन्याय के खिलाफ उनमें संघर्ष करने की भावना अवश्य जागृत हुई। उन्होंने बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जीवन–संघर्ष पढ़ा व उससे प्रेरणा ली, मुकाबला करने का प्रण किया।

परिणामस्वरूप वे आगे बढ़े। स्वाभिमान व मानवीय अस्मिता की चेतना जागी। संवैधानिक प्रावधानों से उनकी उन्नति हुई, विकास हुआ, अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुए और राष्ट्रपति की कुर्सी तक पहुंचे।

डॉ. तारा परमार

दलित साहित्य : आस्वाद के धरातल

✍ डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी

दलित साहित्य क्या है ? इस पर विचार करने के लिए मैं आपके सामने पहले दलित शब्द की व्याख्या करना चाहता हूँ। इस व्याख्या के बाद दलित साहित्य के बारे में समझने में आपको सुविधा होगी।

दलित शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की दल धातु से हुई जिसका अर्थ तोड़ना, हिस्से करना, कुचलना है। इसके विभिन्न अर्थ है दलित–दल + त्त टूटा हुआ, कटा हुआ, पिसा हुआ, चिरा हुआ, खुला हुआ, फैला हुआ है। दलित–दला गया, मर्दित एवं पीसा गया, विनष्ट किया गया। मानक अंग्रेजी शब्दकोश में डिप्रेस्ड शब्द दिया गया है जिसका अर्थ है – दबाया हुआ, झुकाया गया, धीमा किया गया, म्लान किया गया, दिल टूटा हुआ। हिन्दी शब्दकोषों में दलित शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है – मसला हुआ, मर्दित, दबाया हुआ, रौंदा हुआ, जिसका दलन हुआ हो, जिसे पनपने या बढ़ने न दिया गया हो, कुचला हुआ, दबाकर रखा गया हो अर्थात् मानमर्दित।

आजकल दलित वर्ग का प्रयोग हिन्दू समाज व्यवस्था के अंतर्गत परम्परागत रूप से शूद्र मानी जाने वाली जातियों के लिए रूढ़ हो गया है। सबसे पहले श्रीमती एनी बेसेन्ट ने इस वर्ग के लिए ''डिप्रेस्ड कास्ट'' शब्द का प्रयोग किया। बाद में स्वामी विवेकानन्द और रानाडे ने इनके लिए दलित शब्द का प्रयोग किया। महात्मा गांधीजी ने इनके लिए ''हरिजन'' शब्द का प्रयोग किया और संविधान में इन्हें अनुसूचित जातियों तथा पिछड़ा वर्ग कहा गया है। श्री पुरुषोत्तम अग्रवाल ने हरिजन, दलित और अनुसूचित जातियों के अर्थों में अंतर बताया है। उन्होंने कहा कि ''हरिजन'' शब्द जाति व्यवस्था में निहित ऐतिहासिक अन्याय की चेतना को सवर्ण दृष्टिकोण से व्यक्त करने वाला शब्द है। इसमें एक प्रकार का पश्चाताप का भाव है। ''दलित'' शब्द करुणा या पश्चाताप को नहीं बल्कि बेवजह दमन और अपमान का शिकार होने के स्वाभाविक रोष को व्यक्त करता है। ''अनुसूचित जाति'' शब्द अंग्रेज प्रशासकों की देन है। इसमें निहित सोच के लिए जाति की प्रताड़ना की व्यंजना है जो कुल मिलाकर विशेष अवसर पाने की समस्या है। डॉ. अम्बेडकर ने एक जगह लिखा है कि ''गुलाम को गुलाम होने का अहसास दिलाइयें, वह इसके प्रतिरोध में भड़क उठेगा'' दलित साहित्य दलितों को उनके दलित होने का अहसास दिला रहा है। इसके कारणों से अवगत करा रहा है। इसलिये श्री प्रेम कुमार 'मणि' ने लिखा है कि–''दलितों के लिए, दलितों के द्वारा लिखा जा रहा साहित्य दलित साहित्य है, यह विलास का नहीं आवश्यकता का साहित्य है। सम्पूर्ण विज्ञान की दृष्टि से पीड़ित मानवता का उद्धार इसका इष्ट है।'' ऐसे साहित्य का विरोध पीड़ित मानवता का विरोध करना है, जो बहुत देर तक ठहर नहीं सकेगा।

अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल श्री माताप्रसाद ने दलित और दलित साहित्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''दलित परिभाषा के अंतर्गत जहाँ सदियों की सामाजिक व्यवस्था, जातिवाद से अभिशप्त, दलित, शोषित, उत्पीड़ित व्यक्ति आते हैं, वहीं सदियों से उपेक्षित, अपमानित, उत्पीड़ित, निराश्रित, पराश्रित सामाजिक बंधनों से बाधित नारी और बाल मजदूर भी आते हैं। इसी श्रेणी में सुदूर वनों व पर्वतीय अंचलों में रहने वाले विकास और प्रगति से विमुख उपेक्षा की शिकार कठिन परिस्थितियों में रहकर जीवन व्यतीत करने वाली, ट्राईबल यानी आदिवासी जातियाँ आती है और विवशता का लाभ उठाकर बंधुआ मजदूर एवं जीवनयापन के लिए संघर्ष करने वाली घुमंतू जातियाँ भी सम्मिलित है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकती रहती है।

दलित शब्द की उक्त परिभाषा से दलित साहित्य

की परिभाषा सरल हो जाती है। दलित साहित्य वह साहित्य है जो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्रों में पिछड़े हुए, उत्पीड़ित, अपमानित शोषितजनों की पीड़ा को व्यक्त करता है। दलित साहित्य कठोर अनुभवों पर आधारित साहित्य है। दलित साहित्य में आक्रोश या विद्रोहकी भावना प्रमुख है। किंतु केवल आक्रोश या विद्रोह ही दलित साहित्य है ऐसा मानना पूरी तरह सच नहीं है। दलित साहित्य में जहाँ सामाजिक दर्द है जातिवाद की पीड़ा है, शोषण तथा उत्पीड़ित की कसक है, वहीं जाति–उत्पीड़न तथा शोषण के कारणों की तलाश भी है। इसमें भाग्यवाद को अस्वीकार करने की भावना भी है। दलित साहित्य छंद विधान को भी तोड़ता है और जनभाषा का हिमायती है।'' भारतीय दलित साहित्य अकादमी दिल्ली के राष्ट्रीय अध्यक्ष **डॉ. सोहनपाल 'सुमनाक्षर'** दलित शब्द के बारे में कहते है, ''दलित शब्द जहाँ व्यक्ति को अपनी अस्मिता, स्वाभिमान और अपने गौरवपूर्ण इतिहास पर दृष्टिपात करने को बाध्य करता है, वहीं पर अवगति, वर्तमान स्थिति और तिरस्कृत जीवन के विषय में सोचने के लिए विवश करता है। दलित शब्द आक्रोश चीख, वेदना, पीड़ा, घुटन, चुभन और छटपटाहट का प्रतीक है।'' अतः स्पष्ट है कि दलित साहित्य दया, याचना व करुणा का साहित्य नहीं है। यह 'क्रान्ति' का साहित्य है, 'विद्रोह' का साहित्य है, समता का साहित्य है, समरसता का साहित्य है।

दलितों का चरित्र चित्रण कर देना, उनके प्रति दया या करुणा भाव दिखाना मात्र 'दलित साहित्य' नहीं है। जब तक कि उसमें अन्याय, असमानता, अपमान और गुलामी के विरुद्ध 'धधकती आग' न हो, 'विद्रोह' न हो, अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष न हो। असली 'दलित साहित्य' वही है जिसमें दलितों की जिंदगी की छाया के साथ उनके शोषकों की प्रतिछाया भी हो, और उनके मायाजाल से छुटकारे के लिए मार्गदर्शन भी हो। दलित साहित्य वही है जो दलितों के भूत, वर्तमान और भविष्य का वास्तविक आईना हो। उसमें उनके गौरवमय इतिहास की झांकी हो, वर्तमान की दुर्दशा की कहानी और सामाकि विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष व विद्रोह से आने वाले समतामूलक भावी समाज की मनोरम तस्वीर भी हो।

श्री एम.आर. विद्रोही दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए कहते है कि–''दलित साहित्य अपने आप में परिभाषित है। जिस साहित्य से बुद्ध के सिद्धान्त ''अप्प दीपो भव'' अर्थात् अपना दीपक आप बनो का संदेश समाज को मिलता हो, जिस साहित्य में ''ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'' के सिद्धांत को स्वीकार न किया गया हो, जिस साहित्य में डॉ. अम्बेडकर के सिद्धान्तों को अमली जामा पहनाया गया हो ऐसे समूचे साहित्य को दलित साहित्य ही कहा जाएगा।''

दलित साहित्य को लेकर हिन्दी में कई तरह की आशंकाऐं पनप रही हैं। जहां एक ओर परम्परावादी हिन्दी के समीक्षक और लेखक उसे संदेह की दृष्टि से देख रहे हैं, साहित्य में दलितों की अनाधिकार चेष्टा मानकर नाक–भौंह सिकोड़ रहे हैं। सौन्दर्यशास्त्र की दुहाई देकर या तो उसे खारिज कर रहे है या उस पर मराठी की कलम लगाने का आरोप लगा रहे हैं, दूसरी ओर दलित वर्ग के कुछ बुद्धिजीवी और रचनाकार 'दलित' शब्द को अपमान का द्योतक मान रहे हैं। ये लोग दलित शब्द को अभिधात्मक अर्थों में ले रहे हैं, जबकि साहित्य के संदर्भ में किसी भी शब्द को अभिधात्मक अर्थों में ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

हिन्दी दलित साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है कि 'दलित' शब्द दबाये गये शोषित, पीड़ित, प्रताड़ित के अर्थों के साथ जब साहित्य में जुड़ता है तो विरोध और नकार की ओर संकेत करता है। वह नकार या विरोध चाहे व्यवस्था का हो, सामाजिक विसंगतियों या धार्मिक रूढ़ियों, आर्थिक विषमताओं का हो या भाषा, प्रांत के अलगाव का हो, या साहित्यिक परम्पराओं, मानदण्ड़ों या सौन्दर्य शास्त्र का हो, दलित साहित्य नकार का साहित्य है, जो संघर्ष से उपजा हैं, जिसमें समता, स्वतंत्रता और बंधुता का

भाव है, और वर्ण–व्यवस्था से उपजे जातिभेद का विरोध है।''

मराठी के वरिष्ठ साहित्यकार श्री नारायण सुर्वे के शब्दों में यदि कहें 'दलित' शब्द की कई मिली–जुली परिभाषाएँ है। इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियां ही नहीं हैं, समाज में जो भी पीड़ित हैं–वे दलित हैं, ईश्वर–निष्ठा या शोषण–निष्ठा जैसे बन्धनों से आदमी को मुक्त रहना चाहिए। उनका स्वतंत्र अस्तित्व सहज स्वीकार किया जाना चाहिए। उसके सामाजिक अस्तित्व की धारणा समता, स्वतंत्रता और विश्व–बंधुत्व के प्रति निष्ठा से निर्धारित होनी चाहिए, यही दलित साहित्य का आग्रह है। 'दलित साहित्य' संज्ञा मूलतः प्रश्न सूचक है। महार, चमार, मांग, कसाई भंगी जैसी जातियों की स्थितियों के प्रश्नों पर विचार तथा रचनाओं द्वारा उसे प्रस्तुत करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। दलित साहित्य की जितनी भी परिभाषाएं हैं, उनका एक मात्र स्वर है सामाजिक परिवर्तन, आम्बेडकरवादी विचार ही उनकी एकमात्र प्रेरणा है।

श्री निशिकांत ढकार ने कहा है कि 'दलित कथा व्यथा की कथा है। वैसे तो हर सार्थक कथा वेदनामूलक होती है। लेकिन दलित कथा की संवेदना विशिष्ट संवेदना है। इसकी पीड़ा नियतिदान नहीं है, वह मनुष्य के सामाजिक अन्याय, अत्याचार और शोषण की अमानुषिक रूढ़ियों से उपजी पीड़ा है। अंधी व्यवस्था से उत्पन्न यंत्रणा है।'

उक्त परिभाषाओं के आधार पर दलित साहित्य की प्रकृति व स्वभाव को देखते हुए दो–तीन बातों की तरफ इशारा किया जा सकता है, जैसे –

(1) दलित लेखन द्विज संस्कृति व उसके वर्चस्व के खिलाफ है।

(2) दलित लेखन का संघर्ष निर्वर्ण समतामूलक समाज की स्थापना की मांग है।

(3) दलित लेखन में वेदना की पराकाष्ठा है।

अब हमें देखना यह है कि जिस संस्कृति व उसके वर्चस्व के खिलाफ पहली बार मराठी के दलित लेखकों ने आवाज उठाई थी भारतीय साहित्य व दर्शन में उसकी सुदीर्घ परम्परा है या नहीं ? इस बात से सभी लोग अवगत हैं कि द्विज संस्कृति (चतुवर्ण व्यवस्था) के विरोध में सबलरूप से उठ खड़ा होने वाला दर्शन बौद्ध दर्शन ही था। बौद्ध–दर्शन ने केवल लेखकों, कलाकारों और दार्शनिकों को ही प्रभावित नहीं किया था, बल्कि व्यापक रूप से भारतीय जनमानस को भी प्रभावित किया था, फिर तो साहित्य व कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व रचनाएं हुई और ब्राह्मण धर्म व संस्कृति के सामने चुनौती खड़ी कर दी। इसी चाहत की भावना को कालांतर में कबीर, रैदास, महात्मा फुले, ई.वी. रामास्वामी नायकर, अम्बेडकर, लोहिया आदि ने पकड़ा और उसे दूर–दूर तक फैलाया। स्मरण रहे, राहुल व नागार्जुन बौद्ध–दर्शन के रास्ते ही मार्क्सवाद तक पहुंचे थे।

आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल की इस उक्ति को अगर आधार माना जाये कि 'प्रसिद्धि भी किसी काल की लोकवृत्ति की प्रतिध्वनि है' तो कई बातें स्वतः ही साफ हो जाती है जैसे, उन्हीं के शब्दों में 'बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुंचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। चौरासी सिद्ध इन्हीं में हुए हैं, जिनका परम्परागत स्मरण जनता को अब तक है इनमें बहुत से कछुहा, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दर्जी तथा बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे। नाथ सम्प्रदाय भी जब फैला तब उसमें भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के लोग आये।' इस तरह हम देखते हैं कि श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने जिस भाषा–अपभ्रंश भाषा को पुरानी हिन्दी कहा है, उसकी शुरूआत ही अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों से हुई है, सिद्धों में सरहप्पा और नाथों में गोरखनाथ को लोग आज भी भूले नहीं है।

राहुल जी के हवाले से यह बात साफ हो चुकी है

कि गोरखनाथ के पंथ का मूल भी बौद्धों की यही वज्रयान शाखा है, चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ भी गिने गये हैं। हालांकि उन्होंने वज्रयानियों के अश्लील और वीभत्स कृत्य से अपने को अलग कर लिया था। उनके अनुसार घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करना, मन की शुद्धता पर जोर देना, बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा, तीर्थाटन आदि को निष्फल बताना प्रमुख था, 'घट के भीतर सांई रमत है', का विकास आगे चलकर कबीर के लिए अग्रगमन के कुछ रास्ते खुले लेकिन कुछ बाधाएँ भी खड़ी हो गई। डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने कहा था कि **बलि सिर्फ बकरियों की दी जाती है शेरों की नहीं।** इसलिए युद्ध के जरिए उन्होंने 'दलित' शब्द में से दलित भावना को निकाला और उसे 'पैंथर' से जोड़ दिया। दलित पैंथर के संस्थापक नामदेव ढसाल और राजा ढाले जैसे दलित कवि ही थे। पैंथर ने उसी कीर्ति स्तम्भ के नीचे खड़े हो कर शपथ लेनी शुरू की जिस पर महार योद्धाओं के नाम अंकित है। इस तरह युद्ध को परम्परा और संगठन का रूप दिया गया। मुश्किल यह थी कि इसमें से रचना के तत्व कैसे निकाले जाएँ। कहने भर के लिए माना जा सकता है कि बाबासाहब डॉ. आम्बेडकर की आत्मकथा 'मी कसा झालो' (मैं कैसे बना) से प्रेरणा लेकर दलित साहित्यकारों ने आत्मकथा की विधा विकसित की। बाबासाहब डॉ. आम्बेडकर में ही दलित साहित्य के स्रोत दिखाने के लिए यह उदाहरण दिया जाता है लेकिन साहित्य के क्षेत्र में डॉ. आम्बेडकर का असली महत्व कुछ और ही था। वह था एक पथ प्रदर्शक और मनोवैज्ञानिक मुक्ति के द्वार पर दलितों को खड़ा कर देने का महत्व।

दलित आन्दोलन पर विस्तृत काम करने वाले इलिॲनर जिलिॲट ने अपने लेख 'गौरव का लोकगीतः समकालीन दलित विश्वास के तीन घटक' की शुरूआत बाबा साहब द्वारा मराठी में लिखी गई तीन पंक्तियों के अंग्रेजी अनुवाद से की है –

हिन्दुओं को चाहिए थे वेद, इसलिए उन्होंने व्यास को
बुलाया जो सवर्ण नहीं थे।

हिन्दुओं को चाहिए था एक महाकाव्य,
इसलिए उन्होंने
वाल्मिकी को बुलाया जो खुद अछूत थे।
हिन्दुओं को चाहिए था एक संविधान, और उन्होंने
मुझे बुला भेजा।

ये पंक्तियाँ हिन्दी से अंग्रेजी में अनुवादित है, फिर भी काफी शक्तिशाली भावनाओं से ओत–प्रोत लगती है। मूल मराठी में इनका प्रभाव निश्चित रूप से चमत्कारी होगा। ये पंक्तियाँ दलितों को संदेश देती है कि तुम कला और संस्कृति की रचना में किसी से पीछे नहीं हो। ये पंक्तियां और भी आगे जाकर दलितों को विश्वास दिलाती हैं कि वे कला और संस्कृति के मूल रचयिता हैं। इसके बाद दलित रचनाशीलता के निर्माण में दलितों द्वारा लोक के विभिन्न रूपों में परम्परागत भागीदारी के तथ्यों ने भी मदद की।

दया पंवार को एक मराठी कहावत प्रिय थी, जिसे मोटे तौर पर हिन्दी में इस तरह कह सकते है–ब्राह्मण वह घर लिखना, कुनबी के घर अनाज और महार के घर गाना। जिलिॲट बताते है कि गजट में माँग जाति का वर्णन 'विलेज म्युजीशियन' के रूप में किया गया है। **'तमाशा में महारों की भागीदारी एक लोकमान्य तथ्य है।'** बींसवीं सदी में 'तमाशा' का जीर्णोद्धार करने वाले ब्राह्मण बापू राव की संगिनी पवाला एक कलावंत और रूपसी महार नारी ही थी। हाल तक दादू इंदुरिकर (इंदु महार) तमाशा कला के बड़े महारथी थे। उत्तर भारत में नटनियों के साथ जुड़ी हुई किंवदंतियों और नौटंकी के रूपों का आज भी अस्तित्व है। दलित कला के अतीत के लिए लोकरूपों का इस्तेमाल पूरी तरह समस्याविहीन न था। तमाशा और नौटंकी में भाग लेने वाली अछूत महिलाओं को चरित्रहीन समझा जाता था। रंग–रूतबे वाले लोग इनका रखेलों की तरह इस्तेमाल करने से नहीं चूकते थे। इसलिए आम्बेडकर ने दलित कला के संदर्भ में इस किस्म के तथ्यों को चतुराईपूर्वक सीमित किया। यह भी एक कारण है कि दलित साहित्य में नाटक का

आविर्भाव कुछ देर से हुआ।

यह अभियान पूरी तरह से भविष्याधीन था जिससे दलित चेतना में आधुनिकता के प्रति पर्याप्त ललक पैदा हो गई। दलित बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा दलित चेतना की इस प्रवृत्ति से चिंतित है। उसे दलित लोग पूंजीवाद के समर्थक होते दिखाई दे रहे हैं। गेल ओम्बिड्ट तथा अन्य दलित अध्येताओं के एक–दूसरे तबके ने पूंजीवाद के नए रूपों को अपनाने के लिए दलितों का आह्वान करना शुरू कर दिय है। इससे यह शक और भी मजबूत होता है। इस अपील से चिंतित बुद्धिजीवियों ने इसके जवाब के लिए आम्बेडकर के कृतित्व में पूंजीवादी मुनाफाखोरी की आलोचना और पब्लिक सेक्टर के कठोर समर्थन को खोज निकाला है। इस तरह एक तरफ डॉ. आम्बेडकर को पंजीवादी आधुनिकता के समर्थक के रूप में चित्रित किया जा रहा है और दूसरी तरफ ''आधुनिकता के सशक्त समर्थक'' के रूप में उनकी छवि बनायी जा रही है। उन्हें आधुनिकता से दूर दिखाने के लिए जीवन के अंतिम समय में धर्म का आसरा ढूँढ़ने से उधर महार रेजिमेंट बनी और इधर दलित चेतनों में युद्ध की प्रतीकात्मक और व्यवहारिक महत्ता बढ़ने लगी।

शुरूआती दलित कहानीकार अण्णा भाऊ साठे ने 'फकीरा' ओर 'सवाला माँग' जैसे योद्धा और रॉबिनहुड सरीखे चरित्रों की रचना की ओर इस प्रक्रिया में साहित्यिक योगदान किया। बाद के दलित साहित्यकारों ने तो युद्ध को अपना प्रतीक ही बना लिया। **''जब मैंने अपनी जाति छिपाई थी''** के यशस्वी कथाकार **श्री बाबूराव बागुल** ने लिखा है–''इस देश में पैदा होने की गलती की है तो अब उसे सुधारों या तो इसे त्याग दो या युद्ध करो।'' दलित साहित्यकारों के सामने हमेशा से ही युद्ध को चुनने की स्वतंत्रता थी। वे विकल्प के रूप में पलायन अपना सकते थे पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। धीरे–धीरे दलित समीक्षकों ने विश्व साहित्य से कला की वे परिभाषाएँ चुन ली जो कला को युद्ध और हथियार की तरह देखती थी। उन्होंने **कामू** के इस कथन को उद्धृत किया–''सिर्फ युद्ध के बीच ही कलाकार को मिल सकती है शांति और कहीं नहीं।'' चूंकि वे युद्ध का इस्तेमाल एक मिथक के रूप में कर रहे थे, इसलिए उसे शाश्वत बना देना भी उनके लिए जरूरी था। यहां पर शस्त्र उनके काम आए–''लेखन केवल लिखना ही नहीं एक कार्यवाही है, और बुराई के खिलाफ मनुष्य के सतत् संघर्ष में लेखन को सायास एक हथियार की तरह इस्तेमाल करना चाहिए। लेखक को यह बात समझनी चाहिए।''

मराठी दलित साहित्य के अलावा भी अन्य भाषाओं की दलित साहित्य–धाराओं में युद्ध को स्थापित करने के उदाहरण देखे जा सकते हैं। हिन्दी की दलित काव्यधारा में महाभारत काल के दो दलित योद्धा प्रतीकों, एकलव्य और घटोत्कच का तो आह्वान है ही, साथ ही वहाँ एक नया चौंका देने वाला दलित शौर्य का प्रतीक भी है – रानी लक्ष्मीबाई की सहेली झलकारी बाई। महिला होने के कारण यह प्रतीक एक विशिष्ट रूप प्राप्त कर लेता है। झलकारी पर लिखी अर्चना वर्मा की कविता की कुछ पंक्तियाँ खुद–ब–खुद झलकारी की कहानी कह देती है और नए तथ्यों का सृजन भी करती है –

थी शक्ल भी उसकी रानी की, भेष बनाया रानी सा।
ले तलवार, घोड़े पर सवार, रानी को बाहर पहुँचाया।
मुंड कटे और लाश बिछी, गोरों को ललकारी थी।
अंग्रेजों से लोहा लेने रण में कूदी झलकारी थी।
अचूक निशाने बाज थी वह, त्याग, शौर्य, साहस का रूप।
पति शहीद हुए बेफिक्र रही, रण में फिर भी वह लड़ी खूब।
मनुवादी बरतें भेदभाव, कोरिन अछूत वह नारी थी।
.....रण में कूदी झलकारी थी।

स्पष्ट है कि इस कविता को सुभद्रा कुमारी चौहान की ''खूब लड़ी मर्दानी'' की तर्ज पर लिखने की कोशिश की गई, लेकिन रचना तुकबंदी से आगे नहीं बढ़ पाई। इस कलात्मक अकुशलता को नजरअंदाज करते ही हमें एक दम नई चीज के दर्शन होते हैं। दलित वर्गों के स्वाधीनता संग्राम में योगदान का तथ्य झलकारी के रूप में गढ़कर पेश कर दिया गया है।

दलित साहित्यकार यह चिन्ता नहीं करते कि इतिहासकार क्या कहता है–उन्हें तो नए रूपक बनाने है। दंतकथाओं से लिए गए हों अथवा निकट अतीत से। कन्नड़ दलित साहित्य में भी मण्डेश्वर की दंत कथा है। वह हमारे सामने ''लार्ड मडेश्वरा ऑफ सेविन हिल्स'' के रूप में आता है। राजा की पालकी उठाने वाला और उसके लिए चप्पलें बनाने वाला दलितों का चमत्कारी ईश्वर मंडेवा विराट पुरुष की तरह आकार में बढ़ता चला जाता है। एक विशाल वृक्ष को उखाड़ कर छड़ी की तरह इस्तेमाल करता हुआ मंडेवा उसी राजा की गर्दन पर पैर रखकर कुचल देता है।

श्री प्र.ई. सोनकाम्बले अपनी आत्मकथा **''यादों के पंछी''** में बचपन की हाहाकारी स्मृतियों में पहुंच कर उस राजाराम ब्राह्मण से मिलते है जिसकी पतोहू की विदा का शगुन अछूत बालक का मुख देख लेने के कारण बिगड़ गया था। बरसों बाद हुई इस मुलाकात में गरीबी और वृद्धावस्था के कारण ऊँच–नीच का भौतिक आधार टूट चुका है। वह ब्राह्मण उस अछूत से दान मांगता है जो बाबा साहब डॉ. आम्बेडकर के मिलिंद कॉलेज में पढ़कर लेक्चरर हो चुका है लेकिन वर्णक्रम के हिसाब से जिसे दान देने का अधिकार नहीं है। स्पष्ट है कि ब्राह्मण दान नहीं भीख मांग रहा है। नायक को दया आती है और वह जेब में अधिक पैसे होने के बावजूद केवल एक रुपया निकाल कर देता है। जब ब्राह्मण भगवान के नाम पर ज्यादा पैसे मांगता है तो नायक का जवाब होता है, ''भगवान को क्या करने है ज्यादा रुपये।'' यह पात्र और घटना आधुनिकता की उपलब्धि की शुरूआत है। ईश्वर और धन का द्विभाजन इहलोकवाद का प्रतीक है। सोनकाम्बले आधुनिक चेतना के लौकिक स्वरूप को बुनियाद के रूप में दिखाते हैं।

श्री शंकर राव खरात की कहानी **''मैं मेरा गाँव ढूँढ़ रहा था''** दलितों की दुनियां में आधुनिकता की संरचना के अछूते तत्वों का उद्घाटन करती हैं। नायक शहर से इंजीनियर पास करके आया है। आधुनिक जीवन की इस महत्वपूर्ण उपलब्धि से अपने पिता को गौरवान्वित होते देखने की कल्पना से वह रोमांचित है। सवर्णों के व्यंग्यबाण और अपमान भी उस के उत्साह को मंद नहीं कर पाते लेकिन दलित बस्ती उसे खाली मिलती है। छुआछूत और भेदभाव के विरोध में दलित एक नई बस्ती बसाने कहीं और चले गए हैं। कहां गए है–किसी को नहीं पता। नायक भी नए गाँव की तलाश में निकल पड़ता है।

इस प्रतीक को आरक्षण के जरिए ऊँची नौकरियां पाए दलितों के मुकाबले रख कर देखना चाहिए। तेल आयोग के एक शीर्ष अफसर ने जो दलित कतारों से उठकर आया है, हाल ही में दिए इंटरव्यू में कहा कि अगर मनु आप को पसंद नहीं है तो उसकी बात मत कीजिए। यह अफसर नए शहर की खोज में नहीं है। पूंजीवादी व्यवस्था ने उसे पूरी तरह हड़प लिया है। यह अफसर डी.आर. नागराज जैसे बुद्धिजीवियों की चिंता को सही ठहराता है। लेकिन वह दलित चेतना का प्रतिनिधि भी नहीं है। वह तो ''दलित ब्राह्मण'' है। खरात की कहानी का इंजीनियर नायक ऐसा नहीं है। वह आर्थिक और प्रशासनिक उपलब्धि की होड़ में तो है लेकिन आनंदातिरेक भंग होने के बाद उसे पता चलता है कि अफसरी उसकी मंजिल नहीं थी।

पूँजीवादी विकास ने दलितों को वह देश मुहैया नहीं कराया जिसकी डॉ. आम्बेडकर को अपेक्षा थी। **श्री बाबूराव बागुल** की कहानी **''जब मैंने अपनी जाति छिपाई थी''** इसी असलियत का एक श्रेष्ठ कलात्मक बयान है। नायक को रेलवे की नौकरी मिल चुकी है। उसे किराए पर मकान पाने के लिए जाति छिपानी पड़ती है। वह खुद को किसी अन्य जाति का नहीं बताता। हर बार उससे जब जाति पूछी जाती है तो वह आवेश में गरज पड़ता है और खुद को देश की उन्नति के लिए समर्पित कर्मठ नागरिक के रूप में पेश कर देता है। सावधानी से चुने गए इस आवरण का बहुमुखी असर होता है–जाति भी छिप जाती है, जाति पूछने वाला जातिवादी होने के इल्जाम में कुछ सिटपिटा भी जाता है और नायक के मन का आदर्शवाद भी तरंगित हो उठता है। इस कहानी का दलित नायक

शुद्ध नागरिक बनना चाहता है। वह चाहता तो खुद को उच्चवर्णीय भी घोषित कर सकता था। नागरिक समाज उपलब्ध न करा पाने से पूंजीवादी विकास की असफलता इसी जगह उभर आती है। नागरिकता का दावा भी दूसरों के मन में नायक की सवर्ण छवि ही बना पाता है। अंत में छिपी हुई असलियत खुल जाती है और जूतों–लातों की निर्मम पिटाई के साथ प्रकरण खत्म होता है। बागूल का नायक–''नागरिक समाज'' की खोज में फिलहाल नाकाम हो चुका है। उसमें आधुनिकता के प्रति ललक है लेकिन आधुनिकतावाद की चुकी हुई संभावनाओं के प्रति वह निराश है। वह युद्ध का उद्घोष करता है लेकिन उसमें रचना की छटपटाहट भी है। वह प्रचण्ड नकार का प्रतिनिधि है लेकिन ''नागरिक समाज'' के यूटोपिया में निजी पहचान और स्वीकार की खोज कर रहा है। नए शहर की तलाश में बागुल का नायक जिस जगह खड़ा है, वही दलित चेतना का मौजूदा मुकाम है।

श्री बाबूराव बागुल के शब्दों में ''दलित साहित्य इंसान को केन्द्र बनाता है। इंसान को महानता प्रदान करता है, इंसान प्रकृति का एक नन्हा सा रूप है। प्रकृति हमेशा गतिशील और सर्जनशील होनी चाहिये। स्वतंत्रता, समानता और बंधुता की मूल चेतना दलित साहित्य की मूल गर्भ चेतना है। दलित साहित्य की अनुभूति परम्परागत साहित्य से बिलकुल अलग है।'' मराठी कवि **श्री राजेन्द्र सोनवणे** अपनी कविता में कहते हैं –

जब चर्च का घण्टा बजा
तब वह सारे चर्च में एकजा हुए
जब मुल्ला ने अजान दी
तब भी वह सारे लोग मस्जिद में एकजा हुए
लेकिन उफ। जब मंदिर की झामर बजी
तब, वह मंदिर के बाहर ही थे
वहाँ के पुजारियों के दुत्कारे हुए।

क्या आज भी इस वास्तविकता में फर्क पड़ा है? स्वतंत्र भारत में कई सदियों से और आज भी जो उपेक्षित, आनादरित है, बहिष्कृत है, भद्र समाज के पालतू पशु–पक्षी, जानवरों से भी बदतर जिन्दगी जीते हैं।

यह माना जाता है कि महाराष्ट्र में 'दलित साहित्य' शब्द का प्रयोग ई.सं. 1954 से होने लगा, यूं तो मराठी कवि कुलगुरु केशव सुतवे की सामाजिक क्रान्तिकारी रचनाओं में दलित समाज में अन्याय का चित्रण मिलता है, इसके अलावा बीसवीं सदी में मार्क्सवादी दलित कवियों ने भी दलित कविताएं लिखी हैं, इस जनवादी आंदोलन में किसन फागु बनसोड़े प्रमुख कवि है। दलित साहित्य की भूमिका प्रस्थापित करने में डॉ. वानखेड़े, म.भि. चिटणीस, राजा ढाले, बाबूराव बागुल, नामदेव ढसाल, उमा पंवार, अर्जुन डांगले, केशव मेश्राम जैसे कई विचारकों और साहित्यकारों ने अर्थपूर्ण कार्य किया है। इनके साथ–साथ दलित साहित्य के निर्माण में जुटी हुई एकमात्र पत्रिका ''अस्मितादर्श'' के सम्पादक डॉ. गंगाधर पानतावणे का योगदान भी सराहनीय है।

विद्रोह की कविताएं 1965 के आसपास बाबूराव बागूल ने 'फकत' लघु पत्रिका में प्रकाशित की थी, जिन्हें दलित कविता का आरम्भ बिन्दु माना जा सकता है। लेकिन दलित कविता का अग्रगामी कवि **श्री नामदेव ढसाल** ही है। ढसाल का पहला संकलन 'गोलपिठा' 1972 में प्रकाशित हुआ। इस संकलन ने मराठी साहित्य जगत् में पहला 'दलित विस्फोट' कर मध्यमवर्गीय संवेदन पर जबरदस्त आघात किया। ढसाल की कविता गांवों–देहातों की दरिद्रता को, अज्ञान को, दुःख को अपना लक्ष्य बनाती है, घृणा करती है, उनकी जड़ों पर आघात करती है। ढसाल की शैली महानगर की निम्न स्तरीय बस्तियों में, फटपाथ पर, वैश्यालयों में पीड़ा और यातनाओं की नारकीय जिन्दगी से गुजरते हुए लोगों का अनुभव–संसार चित्रित करती है। उनकी **'पानी'** जैसी कविता दलित कविता की महान उपलब्धि है जो गहरी सामाजिक प्रतिबद्धता का दस्तावेज है। 'कुत्ता और जनतंत्र का गाना', 'व्हायलैंस

पेड़', 'भूख' जैसी कविताएं गहरी राजनीतिक संवेदना के साथ मार्क्सवादी प्रतिबद्धता का प्रमाण देती है।

श्री यशवंत मनोहर की कविता का दलित काव्य परम्परा में अपना विशेष स्थान है। उनके कविता संग्रह 'उत्थान गुफा' ने दलित कविता में अपनी अलग पहचान बनाई है। **श्री बाबूराव बागुल** का कहना है, 'मनोहर की कविता रौद्र, सुन्दर, क्रूर, कोमल है। इसने अपने शरीर पर अग्नि के भूषण पहने हुए हैं। उसके हाथ में तूफान और आंधियां है।'

मराठी दलित साहित्य कविता को समृद्ध करने वाले कवियों में दया पवार (कोंडवाड़ा), अर्जुन डांगले (छावणी हलते आहे) जे.वि. पवार (नाकोबंदी), वामन निम्बालकर (गांव कुसाबाहेरील), प्रहलाद चेदवनकर (ऑडिट), केशव मेश्राम (उत्खनन), त्रयबक रूपकाले (सुरंग), भीमसेन देठे (शेरपाल), नारायण सुर्वे (मेरा विद्यापीठ) के पश्चात् दलित कविता का दायरा विस्तृत करने वाले प्रखर युवा कवि प्रकाश जाधव, प्र.ई. सोनकाम्बले, शरण कुमार लिम्बाले, भगवान भोइर, अनिल कांबले, बापू जगताप आदि का समावेश होता है। जिन दलित कवियों की कविताओं में विशिष्ट रोनक है वे है अरूण कांबले, आत्माराम, कनीराम राठौड़, माधव कोंडविलकर, सुधाकर गायकवाड़, अमिताभ इत्यादि। ज्योति लांजेवार, मीना गजभिये, मलिका अमरशेख के बाद अब सुरेखा भगत, संध्या यशवंत, उषा किरण अत्राय, जैसी नई पीढ़ी की कवित्रियाँ भी आ रही हैं।

श्री जयंत परमार से शब्द उधार लेकर हम कह सकते हैं कि मराठी दलित साहित्य के प्रभाव से गुजराती भाषा में दलित साहित्य का आंदोलन शुरू हुआ। 14 अप्रैल 1978 को दलित पेंथर ने 'आक्रोश' पत्रिका शुरू की। काला सूरज, नया मार्ग, मंथन, दिशा, पेंथर जैसी पत्रिकाओं के द्वारा आठ–दस सालों से नई पीढ़ी द्वारा तोड़–फोड़ का साहित्यिक आंदोलन चलाया गया। इन पत्रिकाओं को दलित साहित्य के आंदोलन में विशेष महत्व है। दलपत चौहाण, नीरव पटेल, बालकृष्ण आनंद, चंदु महेरिया, साहिल परमार, राजू सोलंकी, भी.ण. वणकर, प्रवीण गढ़वी जैसे कई नौजवान कवि इन लघु पत्रिकाओं के जरिए साहित्यिक क्षितिज पर आए जो दलित समाज में संघर्ष करते विकसित हुए है। दलित साहित्यकारों ने अनुभव किया कि उनके अनुभव भी साहित्य में अब तक बहिष्कृत होते रहे हैं। यद्यपि गुजराती दीठी सांथालनी नारी (मेघाणी), मेडेला जीव, मानवीनी भवाई (पन्नालाल पटेल), भंगड़ी (सुंदरम्), गुजरीनी गोदड़ी (उमाशंकर जोशी), जन्मोत्सव (सुरेश जोशी), खेमी (टिरेफ), माझा वेलानुं मृत्यु (सुन्दरम्), फुटपाथ, चमार गली, मजूर चाल (जयंत खत्री) आदि रचनाओं में दलित समाज की अनुभूतियों को कविता, कहानी, निबंध इत्यादि में अभिव्यक्त करने की कोशिश की गई है। लेकिन यह साहित्य दलित साहित्यकारों को एकांगी, कृत्रिम तथा जीवनानुभवों से रिक्त लगा।

दलित साहित्य केवल साम्यवाद का प्रचारक नहीं है, अपितु मनुष्य मात्र के अत्याचार, अन्याय तथा विषम व्यवहार के प्रति आक्रोश व्यक्त करना ही उसका उद्देश्य है। वर्णभेद निर्माण करनेवाली संस्कृति के प्रति उनके मन में जबरदस्त आक्रोश है। इस आंदोलन के समर्थकों ने यह बार–बार दोहराया कि उनके लेखन की प्रेरणा जाति द्वेष नहीं है। इसकी भाषा स्वभावतः ही नकार की भाषा बन जाती है। यह भाषा उनकी अनुभूतियों के साथ, सुख–दुःखों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है।

श्री जयंत परमार के अनुसार गुजराती दलित कविता में दलपत चौहाण का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है छंदयुक्त कविता के साथ गीत ग़ज़ल में भी उन्होंने काम किया है। पहला कविता संग्रह 'तो पंछी' 1983 में प्रकाशित हुआ था। 'मुट्ठी–मुट्ठी', 'बेथोनेट', 'चाड़ियों', 'भूल' आदि रचनाओं में दलित प्रश्न और दलित संवेदना को अच्छी अभिव्यक्ति मिली है। भारतीय जीवन में सर्वथा उपेक्षित, अपमानित और अस्पृश्य वर्ग की हजारों वर्षों की भोगी हुई तेजाबी वास्तविकता को चित्रांकित करते हुए वे कहते हैं, **'प्रिये, तेरी पीठ के ये जख्म मैं सहलाता हूँ। जनम–जनम के साथ होने की। सिर्फ एक ही निशानी याद है।**

मुझे / तुझे मेरी पीठ के / ये निशान याद है।'

श्री नीरव पटेल 'सर्वनाम' पत्रिका के संपादक है। 'जैतलपुर हत्याकाण्ड' कविता में अत्याचार के खिलाफ उनकी रगों ' में दौड़ता गर्म लहू चीख उठता है।

'अगर कोई दगा किया तो,
बिजली की तरह दौड़ने लगा है रक्त मेरी नसों में
मेरा अंग–अंग क्रोधाग्नि से काँपता है।
मुझे अपना ताण्डव शुरू करने दे नटराज
मुझे अपनी तीसरी आँख खोलने दे महादेव
मुझे अपना चक्र छोड़ने दे भगवान'

असम के स्वतंत्रता संग्राम सेनानी एवं देशप्रेमी स्व. कलागुरु विष्णुप्रसाद राभा को असम संस्कृति का सूर्य कहा जाता है। उन्होंने जो साहित्य रचना की उसमें से अधिकांश को आज की दलित साहित्य की श्रेणी में गिना जा सकता है। जन जागृतियों को जाग्रत करने के लिए उनकी आवाज शेर की तरह दहाड़ उठी थी। 'जागना पड़ेगा तुम्हें कछाही, मिकिर, खांसी, राभा, गारो, कूकी, नागावीर, खमति, मिसिमि जाग ट्राईबल।' उन्होंने दरिद्रों, भेयाम जनजाति, वनुवा व साधारण लोगों को दासत्व की रस्सी तोड़कर निकल आने का आह्वान करते हुए कहा था –

भाग, भाग, भाग लोहार शकली भाग
छिंग, छिंग, छिंगछिंग दासत्वोर बांध न छिंग।

शोषितों को शोषण मुक्त कराने का संग्राम उन्होंने जारी रखा। उनका जेहाद था गरीबों का उत्थान करो। उनकी वाणी थी कि प्रत्येक असमवासी यह संकल्प ले कि हम समन्वयी संस्कृति को नहीं छोड़ेंगे। असम के ऐसे महान साहित्यकार सामंती व्यवस्था के विद्रोही थे। उन्होंने जो साहित्य रचना की है, उसमें दीन, दलितों और दुखियों के लिए भी प्रमुख स्थान है। उनकी एक कविता का शीर्षक है–'तेजर बोले रे लिखियाम इतिहास।' इस कविता का हिन्दी अनुवाद श्री अरविंद कुमार शर्मा ने इस प्रकार किया है –

तेज की धारा से लिख जाऊंगा इतिहास,
विनाश कर दूंगा, गरीबों का हीन परिहास।
हजारों शहीदों के दुःख की जीवनी लिखकर
हजारों व्याकुलों की वेदनाओं की तस्वीरें खींचकर।
धरती को हमेशा के लिए मुक्त कर दूंगा,
लिख जाऊंगा अनेक शोषितों की आकुलता।
धरती की गोद में रक्त की माला गूंथकर,
अपने को धरती की गोद में उत्सर्गित कर।

दलित साहित्य के उदय के साथ कुछ कवि साहित्यकारों में अलग से नजर आने लगे। उनमें श्री प्रवीण गढ़वी का नाम भी शामिल है। 'बेथोनेट' उनका पहला कविता–संग्रह है। श्री प्रवीण गढ़वी की कविता अर्वाचीन गुजराती साहित्य में अब तक लिखी गई कविताओं में बिलकुल भिन्न इतिहास के नए बोध से भरी है। ईश्वर का नकार, पुराण–मिथक का नव संस्कार उनकी कविता की पहचान है –**''जब–जब नीग्रो की आँख से उतर आता है निहारिकाओं का श्वेत सत्य, तब–तब यह बेयोनेट चुपचाप / कोहरे से ढ़के एशिया अफ्रीका के शहरों की ओर तन जाती है।''**

''परिषद् संदेश'' पत्रिका के संपादक डॉ. बालकृष्ण आनंद की कविता दुःखांत मन का आक्रोश प्रकट करती है। अंधकार–युक्त जीवन में कैद होने का दुःख, व्यथा एक ऐसी ''अस्मिता'' जो आकार देने के लिए जूझती है जिसमें हताशा के लिए कहीं जगह नहीं, **''यदि कल सुबह मैं भर जाऊँ तो नई पीढ़ी से कहना कि चातुर्यर्ण्यमया सृष्ट्म वाली / प्राचीन –अर्वाचीन गीता की होली करना शेष है।''**

दलित कविता के क्षेत्र में श्री साहिल परमार का योगदान सराहनीय है। उनका कविता संग्रह 'व्यथा पच्चीसी 1984 में प्रकाशित हुआ तो नंगी भाषा के प्रयोग से उनकी कविता ''ताणवा माटअ ने आवदाना'' पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया। साहिल ने दलित कविता को समृद्ध बनाया है। यह कवि मूलतः सौंदर्यवादी है, लेकिन उनकी सौंदर्यवादी प्रवृत्ति को आरक्षण आंदोलन ने दलित अनुभूति की तरफ मोड़

दिया है। **''हमारी धड़कनें/हमारे विचार/हमारे संचार/हाथी और घोड़ों के पाँव तले कुचल मरे/फिर /सूरज न डूबाना/और चीख उठी मील की चिमनी।''**

श्री चंदु महेरिया अभिजात आलोचना के मानदण्ड़ों की धज्जियाँ उड़ाते हैं। **'अरे, काले कलंक ही नहीं, हमारा सूरज भी काला है/काला सूरज लेके निकले हैं हम/उसकी आभा को तुम्हारी अंधी आंखें नहीं पहचान सकेंगी।'** श्री राजू सोलंकी की कविता में क्रान्ति का सूर साफ सुनाई देता है। संघर्ष उनकी कविता की आत्मा है। समाज, धर्म, सामाजिक संबंध, जाति–प्रथा, शोषण, गरीबी आदि उनकी कविता के जीवंत प्रतीक है। वह मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक हैं। उनकी कविता 'ढेड़वाड़ा' में दलित समाज का प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देता है।

तेरे फासीवादी आकाश तले,
धीरे से हाँफता है आंतकित ढ़ेड़वाड़ा
सड़ी हुई रोटी की फफूंद कहो
कि मरुभूमि के नंदनवन
निगल जाता है सारी उपमाऐं
एक ही सांस में लट्ठे की तरह
फुटपाथ के किनारे धूल में रगड़ खाता ढेड़वाड़ा।

श्री जयंत परमार की दृष्टि में हरीश मंगलम् की कविता में उत्तर गुजरात की कोनिया की भाषा का प्रयोग नजर आता है। दलित कवियों में साहिल परमार, हरीश मंगलम् और शंकर पेन्टर की कविता में लोक बोली के सुन्दर प्रयोग मिलते हैं। गुजराती दलित कविता में श्याम साधु, मनीष परमार, वारिज लुहार, भरत विंझुड़ा का नाम ग़ज़लों के साथ जुड़ा हुआ है। दान वाघेला, प्रो. नरसिंह उजम्बा परमार, प्रो. यशवंत वाघेला, भी.न. वणकर, निलेश काथड़ ढिलीन येशिया, प्रो. मंगल राठौड़, किसन सोसा, मधुकांत कल्पित जैसे कवियों से भी अच्छी उम्मीद की जा सकती है। गुजराती दलित कविता जीवन की नई लय लेकर आई है, प्रमाणिक यथार्थ लेकर आई है, क्रान्ति मूलक अभिव्यक्ति लेकर आई है। इस कविता में वेदना, यातना, व्यथा है, विद्रोह है, स्वानुभव है, समस्या है, वास्तववाद है, अछूती संवेदना है और अस्मिता की खोज है। पुराने रूपकों और प्रतीकों की परम्परा को छोड़ा गया है। गिद्ध, नाग, कुत्ता, कौवा, चमगादड़, गरुड़, ऊँट, छुरी, कुलड़ी, तीसरी आँख, काला सूरज, काला लहू जैसे नए प्रतीक दलित कविता ने अपनाऐं है। दलित कवियों ने मिथक के सवाल को भी उठाया है। अब तक हिन्दू धर्म ने राम, सीता, कृष्ण, राधा वगैरह को ही अवतार और देवता का रूप दिया था। रावण, शम्बूक, एकलव्य, कर्ण, गांधारी, तुंगभद्रा जैसे पात्रों के लिए सहानुभूति इस विद्रोह की विशेषता है।

हिन्दी में भी मराठी से भिन्न स्थितियाँ रही हैं और आज भी है। सन् 1914 में श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के संम्पादन में निकलने वाली पत्रिका सरस्वती में हीरा डोम की एक कविता छपी थी जो भोजपुरी बोली में थी। जिसे हिन्दी की पहली दलित कविता माना जा सकता है। जिसका सार कुछ इस प्रकार है :– **''हम लोग कुएं के करीब नहीं जा सकते, हम कीचड़ में से पानी निकाल–निकालकर पीते हैं जूते से पीट–पीट कर वे हमारे हाथ–पैर तोड़ देते हैं। हम लोगों को इतनी यातना क्यों उठानी पड़ती है? जिस हाडमांस का हमारा शरीर बना है, उसी का इन ब्राह्मणों का बना है। इन ठाकुरों का बना हुआ है, तो क्या बात है कि ये पूजे जाते हैं और हमारी पूजा जूते से होती है...?** हीरा डोम ने इस कविता में भगवान के लिए ''भगवनवा'' शब्द का प्रयोग किया है। जो अपने आप में एक तीखी और गहरे तक झकझोर देने वाली अभिव्यक्ति है।

हिन्दी साहित्य में छिटपुट चेतना दिखाई पड़ती है वह भी प्रगतिवाद के समय। प्रयोगवाद, नई कविता, नई कहानी, अकविता, नवगीत, अकहानी आदि की कोई भी रचना उठाकर देखियें, कहीं दलितों पर होने वाले अत्याचार, शोषण, दमन का जिक्र तक नहीं मिलेगा। जनवादी साहित्यकार वर्ग भेद की चिंता से तो दुःखी है

वर्णभेद एवं जातिभेद उनकी दृष्टि और संवेदना से बाहर की चीज हैं। अफ्रीका के रंगभेद पर सैंकड़ों कविताऐं मिल जायेंगी हिन्दी में, लेकिन दलितों की पीड़ा, जातिभेद की विभीषिका से वे तटस्थ हैं उनके प्रति उनमें कोई संवेदना नहीं है।

हिन्दी प्रदेशों में दलित साहित्य के विकास की जो गति धीमी दिखाई पड़ती है उसके कई कारण है। सबसे पहले तो यह है कि हिन्दी प्रांतों में दलित आंदोलन कभी भी प्रमुख आंदोलन नहीं रहा है। न राजनैतिक स्तर पर, न सामाजिक स्तर पर। जबकि महाराष्ट्र तथा गुजरात में यह आंदोलन विरोध स्वर के साथ प्रमुखता से उभरा है और इसी के समानांतर दलित लेखन हुआ है। महाराष्ट्र प्रबोधन और विद्रोह की परम्परा में सदैव अग्रणी रहा है। महात्मा फुले ने स्वयं क्रियाशील रहकर सामंती मूल्यों और गुलामी के विरोध का स्वर तेज किया था। ब्राह्मणवादी सोच के वर्चस्व या प्रभुत्व के विरोध में उन्होंने आंदोलन खड़ा किया था। यही कारण है कि जहाँ ज्योतिबा फुले को दलित सृजनशील रचनाकारों ने अपना विशिष्ट विचारवंत माना, वहीं डॉ. अम्बेडकर को अपना शक्तिपुंज माना। ऐसा शक्तिपुंज जिससे समूचा दलित लेखन शक्ति ग्रहण करता है।

इसलिए यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि हिन्दी में दलित साहित्य के लिए समानान्तर आंदोलन चलाकर ही पूरा किया जा सकता है। हिन्दी में दलित चेतना की कोई सशक्त पत्रिका नहीं हैं जो डॉ. अम्बेडकर और ज्योतिबा फुले के विचारों को प्रमुखता से सामन लाये। दलित रचनाकारों की सृजनशीलता को एक मंच दे सके। मराठी में ''अस्मितादर्श'' ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है, दलित साहित्य को आधार देने में।

आज हिन्दी पत्रकारिता की दयनीय स्थिति किसी से छिपी नहीं है। आरक्षण के विरोध में ''आत्मदाह'' के वर्ष में गोलबंद होकर जिस तरह हिन्दी समाचार–पत्रों ने समाचार–संकलन किये थे, वह काफी था, उन तमाम क्रान्तिकारी, तथाकथित प्रगतिशीलता और मार्क्सवाद, जनवाद का तेवर लिए पत्रकारों, सम्पादकों के चेहरों पर चढ़े मुखौटे (खोल) उतारने में जो हल्की सी हवा के चलते ही सूखे पत्तों की तरह फासिस्ट शक्तियों के चरणों में जा गिरे थे।

यह बात सत्य से परे नहीं है कि अंग्रेजी–पत्रकारिता का पिछलग्गू बने रहने में ही हिन्दी पत्रकारिता ने अपनी बेहतरी समझी है। धीरे–धीरे हिन्दी पत्रिकायें डूब चुकी हैं, कुछ डूबने के कगार पर हैं, जो बची हैं उनमें बनारस के पण्डों, पुरोहितों और सामंतों को इस तरह काबिज कर दिया है कि ऊपर से देखने में सब कुछ ठीक–ठाक लगता है, लेकिन भीतर ही भीतर समूचे हिन्दी जगत की धड़कनों को कुन्द किया जा रहा है। पृष्ठ के पृष्ठ रंगे जा रहे हैं राधा के सौन्दर्य पर या फिर तीज त्यौंहारों, मेले–ठेलों पर। क्रान्तिकारी समीक्षक जिन्होंने कभी परम्पराओं की खोज की थी चुप्पी साधकर हवाई यात्राओं में व्यस्त हैं और हिन्दी दलित साहित्य को मराठी की कलम कहकर खारिज कर रहे हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि हिन्दी में चाहे भक्तिकाल हो, नव जागरण या छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद या फिर जनवाद हो, ये सब किसी न किसी की कलम ही है। कोई दक्षिण की कलम है, तो कोई यूरोप की। यदि हमने मराठी की कलम लेकर अपने आप आंगन में लगा ली है तो क्या हुआ, है तो हमारी ही भूमि की कलम, हमारे ही जनमानस की अभिव्यक्ति, यूरोप से आयातित तो नहीं है।

आज हिन्दी दलित साहित्य जिस मुकाम पर है वह पहली स्टेज है। जिसे बाल्यकाल कहें तो अनुचित न होगा, इससे आगे उसे बढ़ना है। साहित्य की सामाजिक जिम्मेदारी का निर्वाह करते हुए, संवेदना और अनुभूति की अभिव्यक्ति बनना होगा, आस्था और परम्पराओं की रूढ़ियों से अलग एक नई दृष्टि के साथ, तभी दलित साहित्य सही अर्थों में दलित चेतना का संवाहक बन सकेगा। अपनी संवेदना, कथ्य, शिल्प और यथार्थ को अपनी भाषा में अभिव्यक्त करना होगा बनावटी और नकली भाषा, जिसकी जड़ें सामंती महलों, प्रासादों या मंदिर के प्रांगणों में बसी हैं, उसे

नकारना होगा, अपनी एक ऐसी भाषा तैयार करनी होगी जिसमें दलित चेतना की उष्मा वहन करने की क्षमता शक्ति हो। तभी सही अर्थों में दलित साहित्य, दलितों की पीड़ा और अभिव्यक्ति का साहित्य कहलायेगा। साहित्य के लिये यह जरूरी हो जाता है कि वह समय को अपने भीतर सोख ले, और दस्तावेज की तरह समय का साक्षी बनें, दलित साहित्य आज के समय की यथार्थवादी सोच है जो सामाजिक यथार्थ की समूची पीड़ा को वहन करने की क्षमता रखता है। सामाजिक अन्याय, विषमता, जातिगत द्वेष , घृणा, अवसाद, उत्पीड़न, प्रताड़ना की गहरी चोट दलितों के मन पर है। इसीलिए दलित साहित्य में, रचनाकारों की रचनाओं में ''हम'' होता है। जो विभिन्न रूपों में उत्कृष्ट अहसासों के साथ दलित रचनाओं में विद्यमान है। सामाजिक संदर्भों में दलित साहित्य रूपात्मक भी है और प्रवृत्यात्मक भी। रचनाकार के अनुभव शब्दों में ढलकर एक ऐसी भाषा का निर्माण करते हैं जो मानवीय अनुभूतियों को समग्र ऊर्जा के साथ व्यक्त करती हैं। दलित साहित्य नकार का साहित्य है। धार्मिक आडम्बर, जातिप्रथा, वर्णभेद, सामंतवादी सोच, परम्पराओं को परोक्ष – अपरोक्ष रूप से खण्डित करता है।

कई हजार वर्ष के दमन, शोषण, उत्पीड़न से उपजी सामाजिक विषमता के प्रति भारतीय मनीषी तटस्थ रहे। यहाँ तक कि भारतीय साहित्य के महान रचनाकारों को भी शस्त्र और शास्त्रों के द्वारा बनाये गये इन अपंग, मूक लोगों के आर्तनाद सुनाई नहीं पड़ें। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् जैसे सूत्र वाक्यों की अभिव्यंजना भी इस समस्या से कोसों दूर दिखाई पड़ती है। ''साहित्य समाज का दर्पण'' कहा गया। किन्तु किस समाज का? क्या समाज मात्र उच्चवर्गों तथाकथित उच्च वर्णों या राजा–रानियों तक ही सीमित था?

भारतीय सभ्यता जिसे अत्यंत प्राचीन एवं सनातन कहा गया है। जिसका हर एक दृष्टिकोण मानवतावादी तथ्यों से भरा पड़ा है, किन्तु जिसकी विसंगतियाँ बेहद कुरूप है। इन्हीं विद्रूपताओं की ओर संकेत करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा था–**''कुछ लोग कहते हैं हिन्दू सभ्यता 6 हजार साल पुरानी है। कुछ को इतने से भी संतोष नहीं होता वे उसे उससे भी पुराना सिद्ध करना चाहते हैं।** मुझे इस बात का अफसोस है कि इतनी पुरानी सभ्यता ने पाँच करोड़ अस्पृश्य, दो करोड़ आदिवासी, लगभग पचास लाख अपराधी जातियों को जन्म दिया इस सभ्यता को क्या कहा जा सकता है? यह कैसी सभ्यता है जिसके परिणाम इतने सोचनीय है? कहीं बुनियादी खराबी है और मैं समझता हूँ, हिन्दुओं को अब इस बात पर विचार करना चाहिए, क्या इस तरह की सभ्यता गर्व करने योग्य है? उन्हें इस पर एक बार नहीं सौ बार सोचना चाहिए कि क्या इस तरह के परिणामों के बावजूद उन्हें सभ्य कहा जा सकता है?

डॉ. अम्बेडकर की यह चेतावनी समूचे भारतीय समाज के लिए है। हमें अपने सामाजिक दृष्टिकोणों, मान्यताओं का पुर्नविश्लेषण करके बेहतर समाज की परिकल्पना करनी होगी। इन परिस्थितियों में साहित्य का उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाता है। दलित साहित्य की भूमिका इन संदर्भों में सही एवं रचनात्मक है। दलित साहित्यकारों का उद्देश्य मात्र दलितों पर हुए अत्याचारों, अन्याय, शोषण का विवरण प्रस्तुत करना ही नहीं हैं, बल्कि सवर्ण हिन्दुओं को आत्मशोधन के लिए मजबूर करना भी है। यही है दलित साहित्य की प्रतिबद्धता।

हिन्दू समाज जो वर्ण व्यवस्था, जाति–प्रथा पर आधारित है। वहाँ समानता जैसे शब्दों का कोई महत्व नहीं है। आधुनिक युग की वैज्ञानिक सोच का प्रचार–प्रसार मात्र पाठ्य–पुस्तकों तक सीमित है। बड़े–बड़े वैज्ञानिक, विद्वान, विचारक घर के भीतर और बाहर अलग–अलग मापदण्ड़ों में जीते हैं। जीवन की ये विसंगतियां कहीं न कहीं समाज के बहुमुखी विकास में गतिरोध उत्पन्न करती है। इन परिस्थितियों में डॉ. अम्बेडकर जीवन दर्शन से उपजा दलित साहित्य सामाजिक उत्पीड़न से प्रतिक्रिया स्वरूप निकला

साहित्य नहीं है, अपितु सामाजिक दबावों से उत्पन्न एक नयी ऊर्जायुक्त धारा है, जो ऊपर से भले ही शांत दिखाई पड़ती हो किन्तु भीतर से तीव्र प्रवाह लिये हुए है। जो सामंतवादी, ब्राह्मणवादी, संकीर्ण, जातियतावादी सामाजिक सोच का विरोध करती है। एक ऐसे समाज की परिकल्पना का आधार सुदृढ़ करती है जिसमें स्त्री–पुरुष बिना किसी भेदभाव के समान मानवीय अधिकार पा सकें और बंधुत्व की भावना का प्रादुर्भाव हो।

साहित्य की मूल भावना में यह बिन्दु शाश्वत सत्य की तरह निहित है कि साहित्य का उद्‌गम विरोध के संघर्ष से है । भारतीय साहित्यचार्यों की धारणाओं और मान्यताओं से भी यह बात सिद्ध होती है । भारतीय वाड्मय में वाल्मीकी को आदि कवि माना जाता है । क्रोच पक्षी के वध को देखकर वे निषाद पर कुपित होते है और उनकी जिह्वा से कविता का स्फूरण होता है, जिसे विश्व की प्रथम रचना माना जाता है –

मा निषाद प्रतिष्ठामः शाश्वती समाः ।
यत्करोंच मिथुनाकम अवधि काममोहितम् ।।

उपरोक्त पंक्तियों में जहाँ क्रोंच के प्रति करूणा भाव है, वहीं शिकारी के प्रति आक्रोश जनित शाप है । यही मूल भावना दलितों द्वारा रचित रचनाओं में स्पष्ट देखी जा सकती है। जो सामाजिक परिप्रेक्ष्य में साहित्य की मूल आदर्श भावना को ओर गहरे तक स्थापित करती है ।

दलित साहित्य समाज में फैले आर्थिक शोषण के विरूद्ध एक सशक्त क्रांति है । किन्तु मार्क्सवादी या साम्यवादी जिस प्रकार इस क्रांति के मार्ग को लीकबद्ध मानते हैं, दलित–साहित्य वैसा नहीं मानता है। अम्बेडकरवाद के रूप में आज दलित रचना साकार हो रही है। अम्बेडकर एक विशिष्ट सीमा तक मानवीय स्वतंत्रता को नियंत्रित करने की बात स्वीकारते है लेकिन वर्ग–संघर्ष के नाम पर स्वतंत्रता, समता, बंधुता जैसे मूल्यों के हनन को स्वीकार नहीं करते।

प्रेमचंद ने छूआछूत को मानवता का कलंक माना था। अपनी कहानियों के माध्यम से इस कलंक पर उन्होनें चोट भी की है । अस्पृश्यता की निस्सारता को समझाया है और धर्म के पाखंड को बेनकाब किया है। अछूतों के मन में स्वाभिमान की भावना जगाने की कोशिश भी की (घासवाली) और सभ्य कहे जाने वाले सवर्णो की बखिया भी उधेड़ी (सौभाग्य के कोडे)। इन कहानियों में चाहे पीने के पानी की समस्या हो (ठाकुर का कुओं) अथवा दलितों पर अत्याचार–उत्पीड़न की समस्या हो (सद्‌गति) और (दूध का दाम) या धर्म के नाम पर साधारण जन को ठगे जाने का प्रश्न हो (बाबा का भोग) प्रेमचन्द ने जीवन के यथार्थ तथ्यों के साथ कला के सूक्ष्मतम रूपों का निर्वाह किया है ।

''दूध का दाम शीर्षक कहानी के बारे में कुछ विशेष। इस कहानी में जब मुंगी और महेसर नाथ के बीच जब भंगियों की बात चलती है तो महेसर नाथ कहते है–दुनिया में चाहे और जो कुछ हो आज, भंगी–भंगी ही रहेंगे। उन्हें आदमी बनाना कठिन है।''

इस पर मूंगी जवाब देती है–मालिक, भंगी तो बड़ों –बड़ों को आदमी बनाते है, उन्हें कोई क्या आदमी बनाये।

इस गुस्ताखी पर मुंगी के सिर पर बाल क्या बचे रह सकते थे, लेकिन आज बाबू साहब ठहाका लगाकर हंसे और बोले–मूंगी बात ता बड़े पते की ही कहती है।

यह पते की बात इसलिए थी कि मुंगी उस वक्त उनके इकलौते पुत्र को अपना दूध पिला कर पाल रही थी।

लेकिन साल भर बाद ही देवताओं ने बालक को भंगिन के दूध पिलाने पर आपत्ति की । मोटेराम शास्त्री तो प्रायश्चित का प्रस्ताव कर बैठे। इस पर महेशनाथ ने फटकारकर कहा–प्रायश्चित की खूब कही शास्त्री जी. कल उसी भंगिन का दूध पीकर पला, अब उसमें छूत आ गयी। वाह रे। आपका धर्म ?

धर्म का यह खुला मजाक है कबीराना अंदाज में लेकिन कहानी का मर्म तो तब खुलता है, जब मूंगी के मरने के बाद उसका बेटा मंगल महेशनाथ के घर में ही

जूठन के लिए तरसता होता है, कुत्ते की तू–तू की आवाज सुनने को बैठा रहता है। दूध का दाम उसे इसी रूप में मिलता है ।

इतना ही नहीं, प्रेमचंद ने अपने पहले उपन्यास ''सेवा सदन'' से ही पुरोहितों और महंतों के ढोंग और अत्याचार का व्यंगपूर्ण चित्रण शुरू किया। उन्होंने प्रत्येक उपन्यास में ब्राम्हणवाद के नाना रूपों को स्वार्थ के नये–नये आवरणों के साथ उभरते दिखाया । उसके गर्हित और कलुषित पक्ष का उद्घाटन किया और सबसे बढ़कर उसके आर्थिक आधार को स्पष्ट किया

जमींदारी, महाजनी, सूदखोरी, बेगार और अंग्रेजी राज की स्वामीभक्ति, एक ओर जमींदार और किसान, पूंजीपति और मजदूर के वर्ग विभाजन पर जारी वर्गीय शोषण और दमन को चित्रित किया, और दूसरी ओर ब्राम्हण और अछूत, अधर्म और सधर्म, जात–पात वाली वर्ण व्यवस्था की ओर ध्यान आकृष्ट किया, उन्होंने दलित समस्या को अंग्रेजी राज और जमींदारी से काटकर नहीं वरन जोड़कर देखा । यहाँ दलित संघर्ष किसान संघर्ष का ही अंग है । इसी प्रकार पुरोहित, सूदखोर, महाजन, जमींदार सब एक ही थेली के चट्टे–बट्टे हैं। दलित और अछूत, शूद्र और नीची जाति वाले उनकी रचनाओं में हाशिये पर नहीं आते, बल्कि वे पूरे रचना फलक पर छाये हुए हैं, वे ही इन जीवन गाथाओं के नायक है।

उनके प्रहारों की शक्ति का अनुमान इसी बात से लग जाता है कि कोई ज्योति प्रसाद निर्मल ने तिल–मिलाकर उन पर ब्राम्हण विद्वेष का आरोप लगाया तथा घृणा का प्रचारक कहा । इसका मुंह तोड़ जवाब देते हुए प्रेमचंद ने जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान शीर्षक निंबध लिखा और कहा, राष्ट्रीयता के विकास के लिए ब्राम्हणवाद का खात्मा जरूरी है ।

जयशंकर प्रसाद ने इसी काम को आगे बढ़ाते हुए ''प्रश्न चिन्ह'' शीर्षक जैसी कहानी लिखी । ''तितली'' और ''कंकाल'' शीर्षक उपन्यासों में बहुत ही यथार्थ वादी ढंग से सामाजिक विषमताओं और कुरीतियों पर प्रहार किया। हालांकि भारत के सांस्कृतिक गौरव के प्रति उनका विशेष लगाव था फिर भी 'समरस' समाज बनाने की बेचैनी को उनके भीतर (कामायनी) बखूबी देखा जा सकता है ।

निराला ने सुधा में लिखा–''जो समाज पुराना है वह किसी भी प्राचीन विभूतियों से युक्त हों, वह नवीन युग के लिए मृत है । उसी से पहले हमें लड़ना था । लड़कर परास्त करना था। परास्त कर नये समाज को सजीव और बहुजनों वाला बनाना था । तब हम राष्ट्र का पहला सोपान तयकर पाते। इसी समाज से राष्ट्र को बल मिलता । यही समाज राष्ट्र का समाज है। बहुजनों वाला समाज बनाने की संकल्पना के क्रम में उन्होंने 'चतुरी चमार' ओर 'कुल्ली भाट' को देखा। शूद्रों की चली आती दुर्दशा उन्हें कहीं बहुत गहरे सालती रही थी । इसीलिए ''कुल्ली भाट'' में वे हरिजन बच्चों को देखकर गहरी आत्म ग्लानि में डूब जाते है –'मैं ईश्वर, सौंदर्य, वैभव और विलास का कवि हूँ। फिर क्रांतिकारी और वे कह उठते हैं –

''जल्द जल्द पैर बढ़ाओं, आओ आओ,
आज हवेली अमीरों की,
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी चमार, तेली,
खोलेग अंधेरे का ताला।''

हिन्दी के अन्य प्रतिष्ठित कवियों में सर्व श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय के ''छूतछात के चौपदे'', रामचन्द्र शुक्ल की 'अछूत की आह' पं. माधव शुक्ल की 'हम अछूत', 'हरिजन', गयाप्रसाद शुक्ल स्नेही की 'अछूत', 'हरिजन–गीत', ब्रह्मदत्त दीक्षित ललाम की 'हरिजन', 'प्राण–प्रतिष्ठा,' मैथिलीशरण गुप्त की 'अछूत', 'हिंदू," भगवती चरण वर्मा की 'हिन्दू', सियाराम शरण गुप्त की 'एक फूल की चाह' श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की 'प्रभु तुम मेरे मन की जानो', सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की 'दलित जनों' पर करो करूणा, सुमित्रानंदन पंत की 'अस्पृश्य', हरिकृष्ण प्रेमी की 'वंदना के फूल', सोहनलाल द्विवेदी की 'सेवाग्राम', 'जीवन साहित्य', माखनलाल चतुर्वेदी की 'बापू तुम्हें प्रणाम', आरसी प्रसादसिंह की 'हरिजन', 'जाति रंग

देशके', शीर्षक कविताएं स्वतंत्रता–संग्राम एवं अस्पृश्यता के विरोध की श्रेणी में कही जा सकती है ।

प्रगतिशील कहे जाने वाले कवियों ने अवश्य व्यवस्था के प्रति असंतोष व्यक्त किया और उसे बदल देने के लिए आवाज उठाई। ऐसे रचनाकारों में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'जूठे पत्ते', 'हम विषपायी जन्म के', हरिवंश राय बच्चन की 'मिट्टी के द्रोणाचार्य', अवध बिहारी अवधेश की 'छूत–छत्तीसी', रामधारी सिंह दिनकर की 'हाहाकार', 'दिल्ली और मास्को', रांगेय राधव की 'स्वस्तिवाचन', 'अजेय खंडहर', सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की 'आओ––आओ', शिवमंगलसिंह सुमन की 'प्रलय सृजन', पंत की 'जाति, वर्ण संस्कृत समाज से', डॉ. रामविलास शर्मा की 'कार्यक्षेत्र' और शील की 'वेश्या का प्रतिरोध'। ऐसी ही कविताएं है जिन्हें दलित साहित्य की प्रारम्भिक चेतना के अधिक निकट माना जा सकता है ।

स्वतंत्रता के पश्चात् कुछ ऐसे साहित्यकार सामने आए जिन्होंने किसी दलित जाति के महापुरूष को केन्द्र मानकर दलितों की समस्याओं का चित्रण किया है। कई ने इन पर महाकाव्य और काव्य लिख डाले है। इनमें गैर दलित जाति के साहित्यकार और दलित जाति के साहित्यकार हैं। यद्यपि उस समय दलित साहित्य जैसा नाम सामने नहीं आया था. किंतु उन्हें पढ़ें तो आज दलित साहित्य की चेतना के प्रारम्भिक दौर के आन्दोलन कहे जाने वाली श्रेणी में इन रचनाओं की गिनती की जा सकती है । ऐसे रचनाकारों में सर्वश्री स्व. डॉ. रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य' (महाकाव्य), अनेगदास सिंह का 'भीमचरित मानस' (महाकाव्य), लक्ष्मीनारायण सुधाकर का 'भीमसागर' (महाकाव्य), बाबूलाल सुमन का 'अंबेडकर' (महाकाव्य). बिहारीलाल हरित की 'जगजीवन ज्योति', गोकरनलाल व माता प्रसाद का आल्हखंड में 'भीम चरित मानस', धनंजय अवस्थी का 'शबरी' (खंडकाव्य), नरेश मेहता का 'शबरी' खण्डकाव्य, जगदीशगुप्त का 'शम्बूक–बध' (खंडकाव्य), माताप्रसाद का 'एकलव्य' (खंडकाव्य), जवाहर लाल कोल 'व्यग्र' का 'मसीहा दलितों का' (महाकाव्य) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

इसके बावजूद डॉ. सोहनपाल 'सुमनाक्षर' का कहना है कि हिन्दी साहित्य सूखा अप्रवाही दरिया है जिसमें निर्जीव रेत भरी है, पर शीतलता देने वाला, हर जन की प्यास बुझाने वाला गतिवान जल नहीं है ।जब 'जल' नहीं तो 'जीवन' कहाँ से होगा ? जब उसमें 'जीवन' नहीं तो स्पन्दन कहाँ से होगा ? अगर ये दोनो नहीं है तो यह रद्दी और कूड़ा करकट से कुछ भी ज्यादा नहीं । दलित साहित्य मानवीय हलचल, स्पन्दन और संवेदना से भरपूर है, उसे जितना सींचा जाता है उतना ही उसका स्त्रोत और लबालब वजनदार और तेजधार होता है । जीता जागता इंसान ही उसकी परिधि का केन्द्र बिंदु है ।

दलित साहित्य ही शाश्वत साहित्य है, क्योकि यह धरती से जुड़े जिंदा लोगों का साहित्य है जो भोगे हुए सत्य पर आधारित है। यह काल्पनिक या आत्म–संतुष्टि के लिए लिखा साहित्य नहीं है, और न ही किसी की यश स्तुति या यशोगान में लिखा गया साहित्य है। दलित साहित्य सार्थक और उद्देश्यपूर्ण साहित्य है ।

श्री निशिकांत ढकार का भी यह कहना कि 'हिन्दी की साहित्यिक संस्कृति में दलित संवेदना के लेखन का अभाव है। कोई आंदोलन नही उभरा है । दलित लेखन का कोई हस्तक्षेप नही दिखाई देता । इस अभाव के कई ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक कारण होंगे। इनका विश्लेषण करना अपने आप में स्वतंत्र और महत्वपूर्ण है। एकांगी सोच का परिणाम है।

विभूति नारायण राय और से.रा. यात्री द्वारा संपादित "वर्तमान साहित्य'' का दो भागों में कहानी विशेषांक प्रकाशित हुआ था जिसमें से दो कहानियों का उल्लेख इस संदर्भ में किया जा सकता है । एक कहानी है मार्कण्डेय की 'हलयोग' और दूसरी ह्रदयेश की 'मनु'। आज की पीढ़ी के संदर्भ में इन दोनों कहानीकारों को पुरानी पीढ़ी का कहा जा सकता है । इन दो कहानियों को मैं दलित साहित्य की अच्छी रचनाऐं कह सकता हूँ, हालांकि इनके लेखक दलित नहीं है। 'हलयोग' कहानी दिल दहला देने वाली कहानी है।

इसमें दलित परिवार का एक प्रतिभाशाली लड़का पढ़–लिख कर गांव के प्राइमरी स्कूल में अध्यापक बन जाता है। चौथे वर्ण का होने के कारण उसका नाम चौथीराम रख दिया जाता है। सवर्ण अपने बच्चों को उसकी कक्षा में नहीं भेजना चाहते क्योंकि चौथीराम ने फैसला किया कि हरिजन और सवर्ण बच्चों को समानता के आधार पर या तो टाटपट्टी मुहैया कराई जाएगी या दोनों को जमीन पर बैठना होगा। चौथीराम मेले–कुचैले हरिजन बच्चों के हाथ–मुंह धुलाता था और उनकी साफ–सफाई का ध्यान रखता था। सवर्णों ने उसको निकलवाने की साजिशें रची। जब वे उनमें सफल नहीं हुए तो उसे किसी जिन्न–भूत की आत्मा का शिकार बता कर पागल बना दिया। यह सब इस तरह से किया गया कि उसके घरवाले भी उसे पागल समझने लगे और गांव के ओझाओं से उसे भयानक यातनाएं दिलाई गई। इनमें एक यातना 'हलयोग' अर्थात् लकड़ी के बड़े लट्ठे को चीरकर उसके बीच उसकी टांग जकड़ दी गई जिससे वह कई दिनों तक वहीं लट्ठे से बंधा रहा। वह बंधा–बंधा ही खाता–पीता और वहीं शौच–पेशाब करता और उसके नजदीक कोई नहीं जाता। चौथीराम के हमदर्द केवल कुछ बच्चे थे, जिनमें सवर्णों के बच्चे भी थे जो अपने मास्टर जी को बहुत प्यार करते थे। लेकिन ये बच्चे लाचार थे, अपने माता–पिता की क्रूरता को वे समझ नहीं पाते थे और उन्होंने दहशत भरे मन से इन सारी घटनाओं को देखा। कुल मिलाकर यह एक भयानक किन्तु खूबसूरत कहानी है।

श्री हृदयेश की कहानी 'मनु' में सत्यनारायण झिंगरन नाम के एक कर्मकाण्डी ब्राह्मणी का प्रसंग है जो बेहद गरीबी में जीने के बावजूद जमाने की बदलती हवा के साथ अपने जीवन का तालमेल नहीं बिठा सका। हरिजनों के हौंसले बुलंद हुए और वे पंड़ितों के साथ मुंहजोरी तथा हाथापाई करने लगे। थाने में शिकायत भी नहीं सुनी जाती क्योंकि वहाँ भी हरिजन थानेदार आ गए थे। पड़ोस के वाल्मीकि मरे हुए कुत्ते को उठाने से आनाकानी करते हैं और अपने सुअरों–मुर्गियों को पंडित जी के घर के अन्दर भेज कर उसे अपवित्र कर देते हैं। तंग आकर वह आत्महत्या कर लेता है और उसके आत्मदाह को आरक्षण विरोधी आत्मदाह कह कर प्रचारित किया जाता है। यह कहानी भी समता की प्रक्रिया से उत्पन्न तनाव की कहानी है हालांकि इसमें दलितों की व्यथा नहीं सवर्णों की व्यथा व्यक्त हुई हैं।

श्री प्रहलादचन्द्र दास की 'लटकी हुई शर्त' जो **युद्धरत आम आदमी** में प्रकाशित हुई थी, कहानी में दलितों की सुप्त वर्ण–चेतना से करवट लेने का, जगने का चित्रण है। कलका 'गंगागम–मंगाराम' पेटू गंगाराम गवंइ समाज में एक प्रतिष्ठित गंगाराम बन जाता है। पर बाबुओं के लिए वह अछूत ही है। भले वक्त पड़ने पर वही बाबू लोग उसी से कर्ज लेने आते हैं, चाहे बाप के श्राद्ध के लिए हो, चाहे बेटी के ब्याह के लिए । बाबू साहब की लड़की के ब्याह पर भोज का इंतजाम किया जाता है फिर गंगाराम सहित सबको न्योता जाता है । पर गंगाराम एक शर्त रखता है कि भोज में दलित इसी शर्त पर शामिल होंगे कि सब एक साथ खायें । वह गांव में मुनादी पिटवा देते हैं अपने यहां उसी समय भोज में शामिल होने की पुरे गांव के लिए। इस प्रकार वह दलित समाज को अपमानित हो कर भोज में शामिल होने से रोकता है । यह गांधीवादी तरीका है बॉयकाट का, लेकिन अपने घर भोज रख कर एक व्यवहारिक तरीका भी अपनाता है कि कहीं खाने के लालच में दलित उधर न चला जाये । हालांकि यह कहानी का कमजोर पक्ष भी है पर है सत्य पक्ष । यह शर्त रास्ता बदलती है पर यह एक व्यक्तिगत प्रयास है पूरे समाज का एक संगठित संकल्प नहीं ।

श्री ओम प्रकाश बाल्मीकि की कहानी का नाम है 'पच्चीस चौके डेढ़ सौ'। कहानी का नायक पहली कमाई लेकर बस से घर लौट रहा है हरेक से हाथ जोड़कर, झुक कर बातें करने वाले दीन–से, डरे–से आदमी में उसे अपने पिता की छवि नजर आती है। वह अपने बचपन में पहुंच जाता है जब उसके पिता ने उसे स्कूल में पढ़ने डाला था । मास्टर का कितना अहसान

माना था पिता ने। स्कूल में वह पच्चीस का पहाड़ा याद करता है–और घर में जाकर दोहराता है पच्चीस चौका सो, तो पिता बुरी तरह डांटता है कि गलत क्यों रट रहा है। पच्चीस चौका तो डेढ सौ होते हैं। गांव के चौधरी ने हमेशा उसे ऐसे ही गिनाया है जब उसने कर्ज का सूद उसे चुकाया है। चौधरी गलत नहीं बोल सकता। जब वह स्कूल में पच्चीस चौका डेढ़ सौ दोहराता है तो मास्टर उसे 'भंगी'– 'संस्कारहीन'–'छोटी जात' कह कर गलियाता है । घर में डेढ़ सौ और स्कूल में 'सो' दुहराता वही बालक, आज वेतन लेकर पिता को सच बताने आ रहा है । मां वेतन को आंचल में, प्रसाद मान कर लेती है । बेटा पच्चीस की चार ढेरिया लगाकर पिता को गिनने के लिए कहता है। पुत्र की मदद से रूपयों की चारों ढेरिया को बार–बार गिनने पर रूपये डेढ़ सौ नहीं, एक सो ही गिने जाते है । तब वह बूढ़ा पिता जो बचपन और जवानी से आज बुढ़ापे तक उस चौधरी को पच्चीस चोका डेढ़ सौ की मान्यता पर सूद चुकाता रहा था, गुस्से से उठता है। गाली देता है – 'तेरे कीड़े पड़ेंगे चौधरी'। यह कहानी संवेदना, भाषा तथा संकल्प स्तर पर बहुत ही सक्षम है। एक गाली में जन्म–जन्म का आक्रोश उगलती यह कहानी दलित चेतना को विकास में बहुत आगे ले जाती है, और बाबा साहब डॉ. अंबेडकर के 'शिक्षा' के मंत्र को उजागर करती है । शिक्षा ने ही पच्चीस चौके डेढ़ सौ को पच्चीस चौके सौ साबित किया । बूढ़े पिता का वह आक्रोश दलित पीढ़ी को विद्रोह के कगार पर खड़ा कर देता है. विशिष्ट वर्ग के कहे को ब्रह्म वाक्य मानने की नियति के मिथक को तोड़ता है।

श्री अवधेश प्रीत की कहानी **'तालीम'** में ग्रामीण स्कूलों में दलितों के निषेध की दर्दनाक कथा है । कहानी का नायक एक सरकारी शिक्षक है जो मुखिया, नेता, विधायक के साथ–साथ गांव के धर्मान्ध, भ्रष्ट, स्वार्थी तिकड़ी के रूबरू है । वह पार्टी से भी जुड़ता है और इनके खिलाफ जनता को भी गोलबंद करने का प्रयास करता है । पर वह दलित वर्ग को इतना सक्षम नहीं बना पाता कि वह विद्रोह कर पाता । वह स्वयं व्यक्तिगत स्तर पर त्याग करता है और अपने स्थानांतरण का सरकारी आदेश फाड़कर फेंक देता है। मुसहर टोली के बच्चों को उन्हीं की टोली में रह कर पढ़ाने का संकल्प लेता है । यह संकल्प नवयुवकों को एक प्रेरणा तो देता ही है लेकिन सवाल उठता है कि क्या ऐसा होता है ? क्या यह एक व्यक्तिगत प्रयास तक ही सीमित नहीं रह जाता ? जब तक दलित वर्ग से उठा या बाहर से आया नेतृत्व उन्हें गोलबंद कर हीन भावनाओं, समझौता परस्ती या खुशामद की प्रवृतियों से राहत पाकर संतोष कर लेने के रूझानों को त्याग कर, उस समाज में खड़ा होने का इरादा पैदा नहीं करता, तब तक समाज में कुछ बदलाव की आशा नहीं की जा सकती । सांस्कृतिक क्रांति की तरफ बढ़ने का रास्ता व्यक्तिगत प्रयास नहीं हो सकते, वह प्रेरक जरूर होते हैं।

श्री मदन मोहन की **'हारू'** कहानी एक दलित ट्रेड यूनियन नेता की है जिससे उसका नेतृत्व वर्ग भी काम तो लेता है पर उसे हल्के से लेता है या दो नंबर का काम करने के लिए उकसाता है । कहानी में नेता होने पर भी पत्नी को 'गू–मूत' उठाना पड़ता हे माथे पर, इसका मलाल भी 'हारू' को है । वह अफसर, नेता, पत्रकार से खफा है पर उनकी चाल में फंस भी जाता है। भटक जाता है हारू और मर भी जाता है । पत्नी भी उन सब की हवस का शिकार बना दी जाती है। पर यह कहानी ट्रेड यूनियन की कहानी अधिक है। कोई भी नेता फिसल सकता है । दलित होने के नाते ही वह फिसला, यह जरूरी नहीं है ।

श्री शिवमूर्ति की कहानी **'त्रिशूल'** में ग्वाले द्वारा एक अल्पसंख्यक को बचाने को लेकर कई अभिजात लेखक उन पर निकृष्ट जातीय साहित्य लिखने का आरोप लगा रहे हैं, जबकि यथार्थ यह है कि आज समाज में चेतना जग रही है और दलित–पिछड़ा वर्ग भी अपना दायित्व कुछ हद तक समझने लगा है । फिर सवर्णो की चाल भी समझ रहा है और वह अपने को

उससे अलग रखना चाह रहा है । क्योकि द्विजों का यह सत्य नहीं है, इसलिए यह कहानी की मूल भावना को जान बूझकर नकार रहा है । वह इसे जातीय रूप देकर जातीय कहानी सिद्ध कर साहित्य से अलग करना चाहते है। सदियों पहले लिखी अश्वघोष की 'बज्रसूचि' ने या कबीर ने जिस तरह मनु के वर्णवाद पर, सीधा हमला किया था वह तेवर हिन्दी के दलित साहित्य में अभी शुरू हो रहा है । सामाजिक निषेधों और ब्राह्मणवादी दबावों से मुक्त करने की छटपटाहट या अमानवीय अपमानजनक जीवन जीने की मजबूरी पर गुस्सा प्रकट करती हुई, परंपरा को नकारती हुई कुछ रचनाएं सामने आई है।

भारत में वर्ग–संघर्ष और वर्ण– संघर्ष एक दूसरे के पूरक हैं। क्या दलित का केवल आर्थिक शोषण ही होता है। क्या आर्थिक शोषण से कहीं अधिक पीड़ादायक यह नहीं है कि मनुष्य होने के बावजूद वे परम्परा से अपवित्र, यहाँ तक कि कलंकित माने जाते है और जीवन में कभी इससे मुक्ति पाने की गुंजाइश भी नहीं रख सके । इस पहलू को केन्द्र में रख कर रचा साहित्य हिन्दी में इतना कम चर्चित हुआ कि नजर अदांज हो गया था या एक साजिश के तहत उसे नजर अदांज करने के लिए चर्चा ही नहीं की गयी । इधर कुछ सशक्त दलित रचनाएं हलचल मचा रही हैं । 'हंस' में कई दलित कहानियाँ आ रही है, दलितों की अपनी 'हम दलित' 'दलित–यात्रा', 'नई लहरें', 'लोक–सूचक', 'अंगुत्तर', 'परिषद संदेश', 'अम्बेडकर मिशन पत्रिका', शम्बूक, प्रज्ञा साहित्य आदि कई पत्रिकाएं उभरी है, जो दलित साहित्य को सामने ला रही हैं। पर इस लेखन को मूल साहित्य में लाने का काम भी करना होगा जो फुटेकर दलित विशेषांकों के रूप में लघु पत्रिकाओं में आ रहा है । 'युद्धरत आम आदमी', 'सुमनलिपी', 'पश्यंति' और 'नारीसंवाद' के दलित विशेषांक इसी प्रक्रिया का प्रयास है।

यह बात भी विचारणीय है कि दलित साहित्य इस समय जिन समस्याओं से जूझ रहा है, उनमें से एक इसके नामकरण की भी है। किसी साहित्य की पहचान, उसकी चेतना एवं उसके उद्देश्यों से होती है। नाम एक संज्ञा है, जो उस चेतना का बोध कराती है। अतः नामकरण वैसे तो एक गौण सी समस्या है, फिर भी महत्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि सबसे पहले व्यक्ति की दृष्टि नाम पर ही जाती है या यूं कहें कि किसी वस्तु का पहला परिचय उसका नाम ही है । वैसे 'दलित साहित्यदलित साहित्यकारों में एक सर्वमान्य एवं बहुप्रचलित नाम है । फिर भी कुछ कवि मित्र दलित साहित्य के क्षेत्र में कुछ अन्य नामों को प्रचलित करने का प्रयास कर रहे हैं । वस्तुतः यहां उन नामों के औचित्य और सार्थकता पर विचार करना ही हमारा उददेश्य है। डॉ. प्रेमशंकर हिन्दी के एक प्रतिष्ठित साहित्यकार है । वह एक अनियतकालीन बुलेटिन भी निकालते हैं । जिसका नाम है –'ष्अम्बेडकरीय कविता' जिसमें मूलतः दलित चेतना और कवियों की ही कविताएं छपती है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'नयी कविता : नया मूल्यांकन' में भी इस प्रकार की कविताओं का विवेचन करते हुए उन्हें 'अम्बेडकरीय कविता' ही कहा है।

प्रश्न यह उठता है कि डॉ. प्रेम शंकर इस कविता को अम्बेडकरीय कविता क्यों कहते हैं ? यह कविता 'प्रजातांत्रिक मूल्यों को समर्पित है' और भारतीय प्रजातंत्र के संविधान निर्माता डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा को रूपायित करती है, उनकी विचारधारा के अनुरूप तथा उसी विचारधारा पर आधारित है क्या इसीलिए यह 'अम्बेडकरीय कविता' है ? यदि हम इस तथ्य पर विचार करें तो इसके विसंगत होने का अहसास होता है । जैसे जब पंत जी अरविंद – दर्शन पर आधारित कविताएं लिखते हैं, तो क्या उन्हे 'अरविंदीय कविता' कहा जाए ? यहां तक कि मार्क्स के विचारों से अनुप्राणित होकर हिन्दी में विपुल साहित्य लिखा गया, लेकिन उसे भी समीक्षक विद्वानों और स्वयं रचनाकारों ने भी 'प्रगतिवादी' कविता या साहित्य ही कहा। अतः 'अम्बेडकरीय कविता या साहित्य' एक अटपटा, असंगत और व्यक्तिवादी नाम हैं, जो इस कविता और साहित्य के क्षेत्र को सीमित करता है। जबकि इसके विस्तार की असीम संभावनाएं हैं ।

डॉ. देवेन्द्र दीपक इस प्रकार की कविताओं को 'अंत्यज कविताएं' कहते हैं। वह अपने काव्य–संग्रह 'हम बोने नहीं' की भूमिका 'पूर्विका में लिखते हैं कि 'हम बोने नहीं' संग्रह की कविताएं शिल्प और विचारणा की दृष्टि से मेरे पूर्व प्रकाशित संग्रहों की कविताओं से किंचित भिन्न है । ये 'अंत्यज कविताएं' है।

'हम बौने नहीं' की अंत्यज कविताओं की यही पृष्ठभूमि है। समाजिक और आर्थिक न्याय से वंचित व्यक्तियों की व्यथा और उनकी संघर्ष–स्फूर्ति ही इन कविताओं का केन्द्रीय भाव है। करूणा की मांग में नहीं, समता की मांग में इन कविताओं का उत्सव है। अंत्यज कविताओं में आक्रोश है। (हम बोने नहीं, पृष्ठ 7–8)। डॉ. दीपक की दृष्टि में अंत्यज कविता अन्य कविताओं से अलग है, यह सामाजिक और आर्थिक अन्याय के विरूद्ध है, वह दया नहीं, समता के लिए संघर्षरत है और उसमें आक्रोश भी है। यह सभी विशेषताएं दलित साहित्य की ही है। फिर भी दीपक जी इन्हें, अंत्यज कविताएं कहते है। क्योकि शूद्र को हिन्दू धर्मशास्त्रों में अंत्यज ही कहा गया है। इसलिए अपने हिन्दूवादी संस्कारों से विवश डॉ. दीपक इन्हे 'अंत्यज' कविताएँ कहते हैं। जबकि यह कविता हिन्दू धर्म, शास्त्र और संस्कारों को नकार कर ही आगे बढ़ती है। वैसे भी 'अंत्यज' शब्द का शाब्दिक अर्थ है–'अन्त से उपजा है जो और व्यक्ति तथा साहित्य का जन्म न तो अर्थ से होता है और न ही इति (अंत) से। अतः 'दलित साहित्य' के लिए इस नाम को कतई स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योकि इसमें से उस हिन्दू धर्म की दुर्गन्ध आती है, जिसके कारण दलित अपनी इस अधोगति तक पहुंचे है। इसमें उसके नकार का नहीं स्वीकार का बोध है।

फिर इस साहित्य का नाम 'दलित साहित्य' ही क्यों रखा जाए ? हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि 'दलित' का शाब्दिक अर्थ है–जिसका दलन या उत्पीड़न किया गया हो। उत्पीड़न चाहे शस्त्र द्वारा किया गया हो अथवा शास्त्र द्वारा। इसलिए इस शब्द की सीमा में केवल शूद्र ही नहीं आतें, बल्कि स्त्री और पिछड़े वर्ग के साथ सवर्ण जातियों के वे लोग भी आते हैं, जिनका किसी भी दशा में मानसिक अथवा आर्थिक शोषण हुआ है। विस्तार की दृष्टि से 'दलित साहित्य' भारतीय समाज के बहुजन का साहित्य है, जो असमानता पर आधारित है । अभिजात्यवादी साहित्य के कलात्मक झूठ का पर्दाफाश करने की क्षमता रखता है। इन पंक्तियों के लेखक डॉ. पुरूषोत्तम 'सत्यप्रेमी' ने दलित साहित्य के विस्तार को रेखांकित करते हुए एक जगह लिखा है कि 'दलित साहित्य में प्रयुक्त 'दलित' शब्द का आशय संविधान या शासन द्वारा घोषित अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं पिछड़ा वर्ग की जातियों के लोग ही नहीं है, अपितु 'दलित' शब्द एक संवेदन है, विचार है जिसका तात्पर्य 'दबाया गया' से है, 'दबे हुए' से नहीं। सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से शास्त्र एवं शस्त्र के बल पर दबाया गया मनुष्य किसी भी जाति, वर्ण, धर्म, मत, पंथ एवं भौगोलिक क्षेत्र का हो सकता है। (सुमन लिपि, मासिक, फरवरी–मार्च, 94, पृष्ठ–5)। दलित साहित्य के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए मैंने एक अन्य स्थान पर लिखा है कि 'भारत के संदर्भ में शताब्दियों की पारंपरिक समाज संरचना के अंतर्गत ब्राह्मणी, सामंती व्यवस्था के द्वारा शास्त्र के बल पर वेदोपनिषद के पठन–पाठन से प्रतिबंधित और उपनयन संस्कारादि से प्रवंचित बहुजन समुदाय यानी बहिष्कृत एवं तिरस्कृत अनेक जातियों, उपजातियों, कबीलों, जमातों में विभक्त किंतु शोषण, उत्पीड़न–अपमान की जन्मघूटी पीने वाले दल विशेष के जनसाधारण ही दलित है । आज का दलित आंदोलन आर्थिक, सांस्कृतिक शोषण से मुक्ति एवं समाजेतिहास की प्रज्जवलता का आंदोलन नहीं है, अपितु वह तो अस्मितादर्शी, 'मानव की प्रतिष्ठा' और 'मानव से मानव की मुक्ति' का स्वतंत्रता, समानता, बंधुता तथा न्याय पर आधारित 'सत्यमेव जयते' के 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की वैज्ञानिक, सामाजिक सरंचना का सृजनात्मक आंदोलन भी है, जिसमें 'अपना दीपक आप बनो' की लोकचेतना के कारण निषेध, विद्रोह और संघर्ष के क्रांतिमूल्य समाहित है। और जिसमें 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष

करों' की सामूहिक दलित लोकशक्ति की गतिशीलता भी है।' (अंगुत्तर, अंक–दो, जनवरी से मार्च, 1994, पृष्ठ–24) इस प्रकार के साहित्य को सर्वप्रथम डॉ. अम्बेडकर ने ही 'दलित साहित्य' कहा था । उनकी अद्‌भूत चेतना का ही परिणाम है कि दलित साहित्य महाराष्ट्र में विपुल मात्रा में लिखा गया और अब स्थिति यह है कि 'दलित साहित्य' ही मराठी साहित्य की मुख्यधारा है । इसीलिए कुछ विद्वान मित्र हिन्दी दलित साहित्य पर मराठी दलित साहित्य की नकल होने का आरोप लगाते हैं जो सरासर मिथ्या और तथ्यातीत है ।

कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि साहित्य दलित हो ही नहीं सकता और न ही साहित्यकार। भला जब 'संत साहित्य' हो सकता है, 'नाथ साहित्य' हो सकता है और 'बौद्ध साहित्य' भी हो सकता है, तो 'दलित साहित्य' क्यों नहीं हो सकता ? अतः अब इस मुद्दे पर विचार करना सर्वथा निरर्थक है। जो लोग इस नाम पर सिंद्धात का लबादा ओढ़कर आपत्ति प्रकट करते हैं । वस्तुतः उनका मन्तव्य कुछ और है। इसे हम उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की भाजपा सरकारों द्वारा लिए गए उस निर्णय के परिप्रेक्ष्य में देखें – जिसके अनुसार 'अब कोई भी व्यक्ति किसी सरकारी प्रपत्र में 'हरिजन' या 'दलित' शब्द का प्रयोग नहीं करेगा, बल्कि इसके स्थान पर केवल अनुसूचित जाति शब्द का प्रयोग करेगा।' इन हिन्दूवादी सरकारों ने ऐसा क्यों किया ? इसका मुख्य कारण है कि 'दलित' शब्द के अंतर्गत केवल 'शूद्र' या 'हरिजन' ही सम्मिलित नहीं है, बल्कि भारत की आबादी का आधा हिस्सा 'स्त्री, शूद्र और पिछड़ी जातियां' भी शामिल है, जिन्हें बहुमत में देखकर मुसलमान और इसाई भी इनके साथ जुड़ गया है । यदि हम इसे थोड़ा सा और विस्तार दें तो इसमें वह प्रत्येक व्यक्ति शामिल है, जिसका किसी प्रकार का आर्थिक, मानसिक अथवा सामाजिक शोषण हुआ है और उस शोषण का आधार शस्त्र या शास्त्र रहा है । इसी आधार पर कुछ दलित नेता अपने आपको भारत की 85 प्रतिशत आबादी का नेता होने का दावा करते हैं। इस बहुमत को तोड़ने के लिए इन हिन्दूवादी सरकारों ने यह आदेश जारी किया। यह साहित्य बहुजन का साहित्य न बन जाए, इस विस्तार भय से ये साहित्यकार 'दलित साहित्य' के लिए कुछ अन्य नामों को प्रचलित करना चाहते हैं। इसलिए हमारा विनम्र मत है कि इस साहित्य को निर्विवाद रूप से 'दलित साहित्य' ही कहा जाए ।

अंत में अपनी बात को समेटते हुए यही कहना चाहता हूँ कि दलित साहित्य के सम्मुख इस समय कई प्रकार की चुनौतियां है । एक ओर जहां उसे अपने क्षेत्र का विस्तार करना है, वहीं दूसरी ओर उसे अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता को भी तय करना है। आज साहित्यिक मंच राजनीतिक अखाड़े बन गए हैं। इन अखाड़ेबाज साहित्यकारनुमा राजनीतिज्ञों से बचते हुए दलित साहित्य को आगे बढ़ना है। दलित साहित्य चूंकि भारत की दलित जनता में जागरण का शंखनाद कर रहा है। इससे सत्ता के समीकरण बदलते हुए प्रतीत हो रहे है । जिसका तात्कालिक परिणाम यह निकला है कि राष्ट्रवादियों–हिन्दूत्ववादियों ने दलित साहित्य के प्रसार को रोकने के लिए कुछ कार्यक्रम तय किए हैं। उनमें एक अंबेडकर पर उनके द्वारा लिखे गए साहित्य को बाजार एवं मुफ्त वितरण के लिए प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कराना भी है। जिसमें डॉ. अंबेडकर को पूरी तरह हिन्दूवादी तथा मुस्लिम विरोधी साबित किया गया है। इसका एक उदाहरण देखें – श्री गौरी शंकर रस्तोगी अपने एक लेख 'समता के सेनानायक' में लिखते है कि – 'यदि आज बाबा साहब अंबेडकर हमारे बीच होते तो वे भगवान श्री रामलला के पावन मंदिर निर्माण के इस रचनात्मक कार्यक्रम में अग्रणी पंक्ति में सेनानायक के रूप में राष्ट्र का नेतृत्व कर रहे होते।' इसी लेख में वह आगे लिखते हैं – 'अंत में यही कहना अधिक तर्कसंगत होगा कि अयोध्या में रामजन्म स्थान पर भगवान श्री रामलला के मंदिर का पावन निर्माण करना ही प्रातः स्मरणीय स्वर्गीय बाबा साहब अंबेडकर की जन्म शताब्दी के पुनीत पर्व पर उनके प्रति इस कृतज्ञ राष्ट्र की श्रेष्ठ श्रद्धांजलि होगी।' (पांचजन्य : समरसता अंक, 17 मार्च 1991, पृष्ठ–70 एवं 72)। बाबासाहब जीवन भर हिन्दू धर्म को कोढ़ समझकर झेलते रहे और अंत में अपनी मृत्यु से कुछ ही पहले उन्होने इस कोढ़ से मुक्ति पाई। उनके संबंध में

इस प्रकार का कथन कितना बड़ा झूठ और छलावा है। दलित साहित्यकारों को इस साजिश को समझना है कि कौन है वे लोग जो डॉ. अंबेडकर को उस राम के बराबर बैठा रहे हैं, जो शम्बूक जैसे शूद्र ऋषि का हत्यारा था। वस्तुतः समझना यह है कि इन लोगों का इरादा क्या है ? देखने में ये उदार लगते है, जो कभी अयोध्या में राम मंदिर का शिलान्यास किसी पासवान से करवा देते हैं और कभी बनारस में किसी डोम के हाथ का परसा हुआ भोजन ग्रहण करते हैं। क्या उस प्रस्तावित मंदिर का पुजारी भी वे किसी पासवान को बनवा सकते हैं ?

वे बाबरी मस्जिद के विध्वंस की तिथि 6 दिसंबर तय करते है, जो बाबा साहब डॉ. भीमराव अंबेडकर की पुण्यतिथि है। ये वही लोग हैं जो भारत में संसद के समान्तर 'धर्म संसद' चलाते हैं। वस्तुतः ये लोग लोकतंत्र (जो किसी दलित को सर्वोच्च पद तक पहुंचाने वाली प्रक्रिया है) और भारतीय संविधान (जो किसी दलित द्वारा रचित, तथा भारतीय लोकतंत्र का नियामक और प्रहरी है) को तोड़कर इस देश में तानाशाही (रामराज्य) की स्थापना करना चाहते हैं । जिससे 'धर्म संसद' के कानून लागू होंगे, जिसका आधार होगा 'मनुस्मृति। और आपको याद होगा कि अभी बंगाल में एक स्त्री अरुंधती रॉय के वेदपाठ पर आपत्ति की गई। कुछ वर्ष पूर्व दलितों द्वारा नाथद्वारा मंदिर प्रवेश को अनुचित ठहराया गया । सती प्रथा की वकालत की गई और यह सब किया गया है 'धर्म संसद' के सर्वेसर्वा एक शंकराचार्य द्वारा । वस्तुतः ये लोग अंबेडकर को भगवान बनाकर कहीं उनका मंदिर बनवा देंगे, आरती भी खुद ही लिख देंगे और दलितों के हाथों में घंटी थमा देंगे ताकि वे जीवन भर इस आरती को गाते रहें, अपने हक के लिए न लड़ सकें । इन तथाकथित धार्मिक उदार लोगों की इस साजिश को समझना है और उसे नाकाम करने का प्रयास करना है। क्योकि आज नहीं तो कल दलित साहित्यकारों को भी खरीदने के प्रयास किए जाएंगे – कभी पद प्रतिष्ठा देकर, कभी पुरस्कार , सम्मान और उपाधि देकर । इन सभी स्थितियों पर विचार करके ही हम दलित साहित्यकारों को अपनी प्रतिबद्धता तय करनी है । क्योकि दलित–कलम ही संघर्ष की उस भूमिका की वाहक है जो स्थाई होती है ।

इसके अतिरिक्त दलित साहित्य के सामने जो महत्वपूर्ण प्रश्न है, उनमें से एक यह कि दलित साहित्य भारतीय परंपरा के अनुरूप नहीं है और दूसरा यह कि दलित साहित्य कलात्मक नहीं है । इन दोनों आधारों पर ही आज दलित साहित्य को नकारा जा रहा है । इस संदर्भ में दलित साहित्यकारों को यह समझना होगा कि भारतीय परंपरा क्या है ? क्या वह हमारी भी परंपरा है ? भारतीय परंपरा में आते हैं राम, जिसने शम्बूक की हत्या इसलिए कर दी थी कि वह अछूत होकर तपस्या कर रहा था। भारतीय परंपरा में आते हैं द्रोण, जिसने एकलव्य का अंगूठा इसलिए कटवा लिया था कि वह धनुष बाण चलाना सीख गया था, और आगे चलकर अपनी जाति को प्रशिक्षित कर सकता था. जो तत्कालीन सत्ताधारियों को चुनौती दे सकती थी। भारतीय परंपरा में आते हैं गांधी–जिन्होंने 'अछूतिस्तान' की मांग को तो स्वीकार होने ही नहीं दिया, दलितों के लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था को भी नहीं होने दिया। जिसके कारण पिछले पचास वर्षों में जितना दलित अहित हुआ है, आज उसका आकलन करना भी असंभव है । इसलिए जहां तक हमारी परंपरा का प्रश्न है वह अपमान, घृणा, दरिद्रता और अशिक्षा की परंपरा है और इसी कारण विरोध, विद्रोह और संघर्ष की परंपरा है, यह संत रैदास, महात्मा फुले ओर डॉ. अंबेडकर की परंपरा है, जिसमें किसी प्रकार का भटकाव नहीं है ।

अब दलित साहित्य पहचान के संकट से गुजर कर एक सच्चाई के रूप में स्थापित हो चुका है । उसके लिए भाषा का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह गया है, कि वह मराठी का है या हिन्दी का। अब तो भारत के लगभग हर हिस्से में दलित साहित्य का सृजन हो रहा है। विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में दलित साहित्य को शामिल करने के प्रयार चल रहे हैं । कुछ विश्वविद्यालयों ने तो दलित साहित्य पर शोध कार्य भी प्रारंभ कर दिया है । लघु–पत्रिकाओं के सम्पादक अधिकांश इसी चेतना के पक्षधर है। अनेकों लघु पत्रिकाएँ दलित अंक प्रकाशित कर रही हैं, गत वर्ष के 'सुमनलिपि' 'प्रज्ञा साहित्य' एवं 'युद्धरत आम आदमी' के दलित विशेषांक पठनीय एवं सराहनीय है। 'संचेतना' का प्रयास भी प्रशंसनीय है। आज साहित्य और राजनीति में भी दलित चेतना की चर्चा के बिना साहित्य की चर्चा अधूरी समझी जा रही है।

अरविन्द के जन्मदिन 15 अगस्त पर प्रकाश्य
अरविन्द की काव्य–दृष्टि

डॉ. मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ

अरविन्द काव्य की चरम सीमा 'रस तत्व को नहीं मानते। उसी तक सीमित नहीं रहना चाहते। उसे आत्म तत्व तक उठाना चाहते हैं। उनके लिए काव्य केवल आनन्द नहीं हैं। वह महान निर्माणक और प्रभासक शक्ति है। समान्यतः हम काव्य का विचार करते समय उसे कथ्य और शिल्प इन दो भागों में बाँटते हैं और कथ्य को सम्प्रेषित करने वाले शिल्प की प्रशंसा करते हैं। ऐसा श्रेष्ठतम शिल्प जो रस के पोषक काव्य को प्रस्तुत कर सके, काव्य की पूर्णता की ओर पहला कदम है। हम अपनी भाषा में कह सकते है कि श्रेष्ठ काव्य वह है जिसमें शिल्प की ऐसी पूर्णता हो जो रस की निष्पत्ति करा सके। परन्तु अरविन्द के अनुसार यह काव्य का पहला कदम है अन्तिम लक्ष्य नहीं है। अन्तिम लक्ष्य है आत्म–सत्य की अनुभूति तक पहुँचना। इस सत्य को जब हम ध्यान में रखते है तो सम्पूर्ण काव्य, जिसमें कथ्य, शिल्प, बुद्धि, कल्पना और लय सभी कुछ समाहित हैं, एक रूप होकर उस लक्ष्य का एक शिल्प मात्र रह जाता है जो अरविन्द को अभिष्ट है। यह उस काव्य की बात है जिसे हम श्रेष्ठ काव्य कहते हैं, कवि सम्मेलनीय काव्य की बात नहीं है। कवि जब बौद्धिक स्तर से परे ले जाने वाली भाषा का प्रयोग करता है और आध्यात्मिकता को उसमें ढ़ाल देता है तो वह मंत्र की रचना करता है। बौद्धिकता के स्तर पर लिखा गया काव्य अमर नहीं हो पाता। अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक काव्य की समस्त शैली और लय एक खास उत्तेजना से निःसृत होती है। यह उत्तेजना एक खास विजन द्वारा उत्पन्न होती है जिससे मुक्त होने के लिए आत्मा उत्सुक रहती है, छटपटाती रहती है। इस विजन का विषय भौतिक या आध्यात्मिक कुछ भी हो सकता है – मानव, प्रकृति, प्रभु, कोई भी विशिष्ट वस्तु। यह सभी विजन के साधन हैं। इतना पर्याप्त है कि देखने वाली सत्ता आत्मा हो और आँख, संवेदन, विचारात्मक मन आत्मा के निश्चल यंत्र हों। तब हमें असली ऊँचा काव्य मिलता है।

बौद्धिक विचार–वस्तु या जीवन की आलोचना (जैसा कि मैथ्यू , अर्नाल्ड ने लिखा है) काव्य का विषय बिलकुल नहीं हैं। वर्ण्य–विषय आत्मन् दृष्टि या सम्बोधि है। उसका कलापक्ष और विषय उसी में से उद्‌भूत होता है। तात्पर्य यह कि जिसे हम शैली कहते हैं और जिसकी अनुकूलता वर्ण्य–विषय के साथ जोड़ते हैं केवल वह ही शैली नहीं हैं। वर्ण्य–विषय और कलापक्ष मिलकर जिस शब्दार्थ की रचना करते हैं वह पूरा का पूरा शब्दार्थ ही अरविन्द की दृष्टि में शैली है, जिसका वर्ण्य–विषय है आध्यात्मिकता।

अरविन्द ने शैली का जो रूप निर्धारित किया है वह प्रचलित अर्थ में कथ्य और अभिव्यंजना का संयुक्त रूप है जो काव्य के कथ्य को अनिवार्य रूप से आध्यात्मिकता की ओर मोड़ देता है। अरविन्द की काव्य के प्रति यह दृष्टि इसलिए ठीक कही जा सकती है कि उनका लक्ष्य आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त करना है जिसके अनेक साधन हैं–योग, प्राणायाम् आदि (जिन पर उनका प्रचुर सहित्य उपलब्ध है) उसी प्रकार का एक साधन है काव्य। अतः जब वे काव्य–शैली शब्द का प्रयोग करते है तो उनके मन में काव्य सम्पूर्ण एक इकाई के रूप में (as a whole) अविभक्त रूप में आध्यात्मिक आनन्द की ओर ले जाने वाली एक शैली ही है।

अरविन्द की सारी शक्ति उस आन्तरिक शक्ति की महिमा के गान में लगी है जो बुद्धि से परे आत्मा की शक्ति है और जिसका प्रकाश हमें वस्तुओं घटनाओं और व्यक्तियों के सार–तत्व का अनुभव कराता है, उससे हमारा तादात्म्य होता है। वह केवल तादात्म्य ही नहीं

कराता वरन् उसका दर्शन भी कराता है और उनकी इस सम्पूर्ण क्रिया के दो बीज शब्द है– 1. intuition और 2. Vision उनका संकेत इस ओर है कि कवि घटनाओं के सत्य को इस प्रकार आत्मसात करता है कि वह अतीत और वर्तमान तक सीमित न रह कर उसके भविष्य को भी देख लेता है। वे कविता को केवल बुद्धि की प्रक्रिया नहीं मानते। यद्यपि बुद्धि काव्य के लिए अप्रासंगिक नहीं है। अरविन्द के अनुसार सम्पूर्ण काव्य–रचना एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है जो आत्मा के अस्तित्व का अहसास कराती है और ऐसे शब्दों का निर्माण करती है जो भौतिकता से परे एक आन्तरिक विषय को समाहित करते हैं। इसका निर्माण एक ऐसी विशिष्ट स्थिति में होता है जिसकी प्रकृति एक प्रकाश की है, जो स्वयं एक प्रकाश है। इसी प्रकाश में काव्य–सत्य सामने आता है या कहा जाय कि इस प्रकाश को उद्भासित करना ही काव्य का उद्देश्य है। यह प्रकाश केवल काव्य की ही रचना नहीं करता। इसकी अन्य अनेक भूमिकाएँ भी हैं। जिनका सम्बन्ध आध्यात्मिक और आन्तरिक जीवन और उसकी शक्तियों से है।

अरविन्द जिस Future Poetry की स्थापना करते हैं या करना चाहते हैं, वह सीधे–सीधे उनके विकासवादी दर्शन से जुड़ी हुई है। वे विकास की आगामी सीढ़ी मानस से अतिमानस तक की कूद को मानते है। वे विकास को सोद्देश्य मानकर एक निश्चित लक्ष्य तक लग जाना चाहते हैं, जिसमें भौतिकता की या भौतिक विकास की अवहेलना नहीं है, अब तक जो विकास हुआ है उसकी स्वीकृति है परन्तु उनके अनुसार आगामी विकास की सीढ़ी आध्यात्मिक और आत्मिक है। वैज्ञानिक विकास अपनी चरम स्थिति पर पहुँचकर जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है वहाँ विकास की सोद्देश्यता का प्रश्न सामने खड़ा हुआ है। वह भौतिक विश्लेषण के चरम–बिन्दु पर पहुँच गया लगता है। काव्य उसके लिए एक बौद्धिक प्रक्रिया ही है। उसका विषय तो अभी तक उन विषयों को भी आत्मसात नहीं कर पाया है जहाँ विज्ञान पहुँच गया है। क्यों ? काव्य द्वारा इन विषयों की ग्राह्यता न होना क्या कवि और काव्य की विवशता, शक्ति–हीनता और अयोग्यता है या वह मूल रूप में काव्य का विषय ही नहीं है? यथार्थवादी काव्य पूरी तरह सिर पटकने के बाद भी काव्य को विज्ञान के निकट नहीं ला सका है, उसकी दृष्टि मात्र सामाजिक यथार्थ तक पहुँच कर रह गई है। यथार्थवादी काव्य हमें उस शक्ति का अहसास कराने में असमर्थ है, जिस शक्ति का अनुभव हमें वैज्ञानिक दृष्टि करा रही है। ज्ञान के जिन चमत्कारों का अहसास हमें नित्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हो रहा है, वहाँ तक यथार्थवादी काव्य की पहुँच नहीं है। कारण यह है कि वह काव्य के वर्ण्य–विषय का मुख्य क्षेत्र है ही नहीं।

प्लेटो ने काव्य की भर्त्सना करने के बाद भी यह माना कि कवि एक आध्यात्मिक और दैवी आवेश से युक्त होता है। प्लेटो कवि नहीं था अतः उसे काव्य–रचना प्रक्रिया का अनुभव न था परन्तु उसके आलोचक मन ने काव्य की आध्यात्मिकता को स्वीकार किया है–प्रयोगों को सम्पन्न करके। उसका प्रयोग सर्वेक्षण के रूप में था यह एक अलग बात है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य के अद्भुत समर्थक थे। उनके अनुसार मनुष्य के लिए काव्य आवश्यक है, जानवरों को उसकी जरूरत नहीं होती। कवि अतीत और वर्तमान में अपना आत्म–विस्तार करने के लिए काव्य–रचना करता है। परन्तु वे काव्य में आध्यात्मिकता की बात करने वाले को ठीक ठिकाने का आदमी भी मानने के लिए तैयार नहीं थे। वे स्वयं नाम मात्र के कवि थे। उनकी गणना कवियों में नहीं होती अतः आध्यात्मिकता के विषय में उनका यह निर्णय अनुभव पर आधारित नहीं है। अरविन्द श्रेष्ठ कवि भी थे और दार्शनिक भी। उनकी आलोचना का स्तर भी बेजोड़ है अतः उनका निर्णय अनुभव–सिद्ध मानना होगा। इसलिए भी कि उनके काव्य का स्तर भी वही है जो उनका अनुभव बोलता है। यह स्तर Rarest rare है, यह उनका दोष नहीं महानता है।

75/70, मानसरोवर, जयपुर–302020
मोबा. 8764295011

'दोस्ती'

संसार में रहकर
दोस्ती नहीं, मित्रता नहीं
तो कुछ भी नहीं
दोस्ती हो या मित्रता हो
उनमें ताल–मेल की पात्रता हो
उसमें कभी न हो भिन्नता
चालू किस्म की अवसरवादी
गहरी चापलूसी की बू न आती हो
दोस्ती अब दोस्ती नहीं रही है
आज दोस्ती ही कितनी
जितना भी स्वार्थ हो उतनी
क्योंकि मित्रता तो
आखिर मित्रता कैसी हो
ऐसी न हो, वैसी न हो
गहरी हो पक्की हो
संकट के समय दौड़ने वाली हो
सहयोग करने वाली हो
मित्रता वो नहीं हो
जो कांच के समान
चटकने वाली न हो
जो चटक जाती हो
जो मतलब के लिए जुड़ने वाली
कुछ क्षणों के बाद टूटने वाली
मित्रता हो तो ऐसी हो
जो अम्बर में
सूर्य और चन्द्रमा जैसी हो
राजा और रंक में
कृष्ण और सुदामा जैसी
जो अखण्ड होकर भी
जन्म–जन्म भर तक
अमर रहने वाली हो।

डॉ. सुभाष नारायण भालेराव ''गोविन्द''
'' अवन्तिका'' ए–38, न्यू नेहरु कॉलोनी,
ठाठीपुर, मुरार, ग्वालियर–474011
संपर्क सूत्र :– 8989598860

डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी जी
की
सोलहवीं पुण्यतिथि
(07/08/2020)
पर आश्वस्त परिवार की ओर से
विनम्र श्रद्धांजलि

पंजीयन संख्या
RNI No. MPHIN/2002/9510

डाक पंजीकृत क्रमांक मालवा डिविजन 204/2018-2020 उज्जैन (म.प्र.)

प्रतिष्ठा में ,

पत्र व्यवहार का पता :
20, बागपुरा, सांवेर रोड,
उज्जैन 456 010 (म.प्र.)

प्रकाशक, मुद्रक पिंकी सत्यप्रेमी ने भारती दलित साहित्य अकादमी की ओर से
मालवा ग्राफिक्स, 29, वररुचि मार्ग, गुरुद्वारे के सामने, फ्रीगंज, उज्जैन फोन : 0734-4000030 से मुदित एवं
20, बागपुरा, सांवेर रोड, उज्जैन 456 010 (म.प्र.) फोन : 0734-2518379 से प्रकाशित।

सम्पादक : डॉ. तारा परमार